ईश्वर

कौन है, कहाँ है, कैसा है?

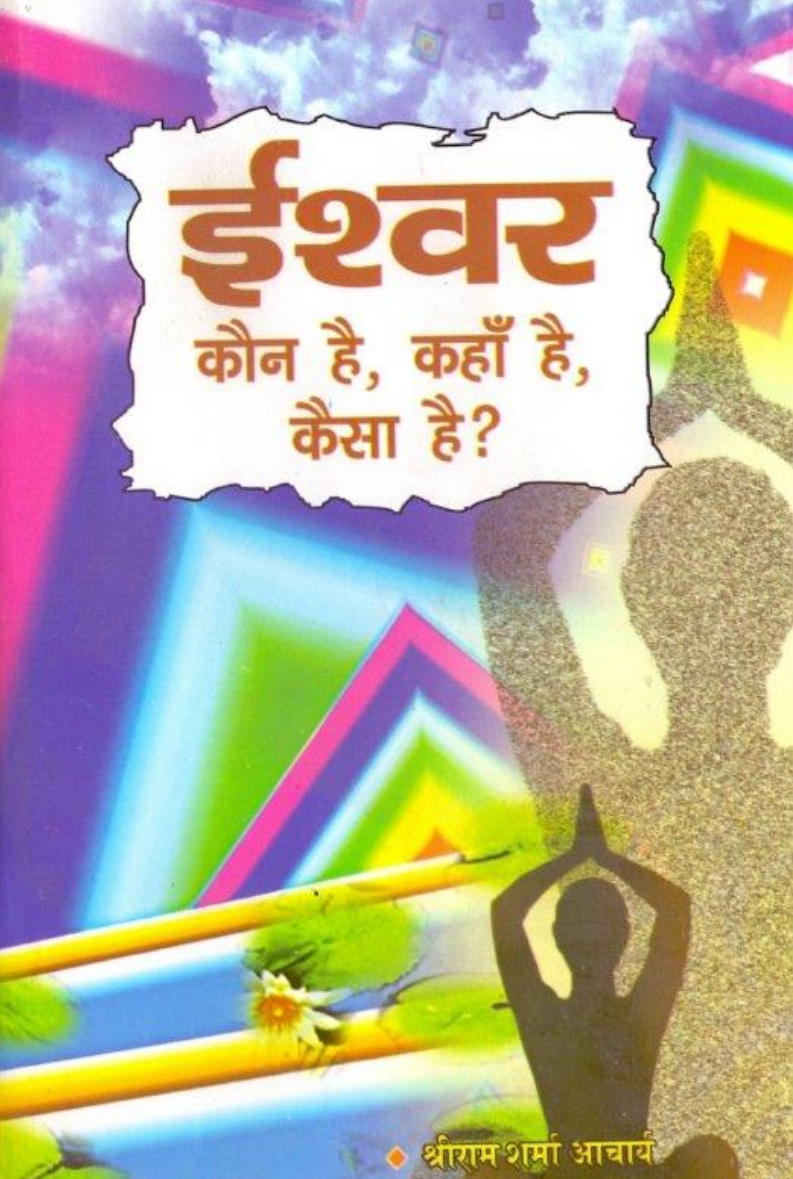

श्रीराम शर्मा आचार्य

ईश्वर कौन है, कहाँ है ? कैसा है ?

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य : १९.०० रुपये

विषय-सूची

१.	ईश्वर है या नहीं है ?	३
२.	अद्‌भुत मनुष्य शरीर और अद्‌भुत उसकी रचना	१८
३.	विलक्षण मनुष्य और उनकी विलक्षणताएँ	३४
४.	संसार से भी विचित्र उसके प्राणी	५२
५.	दयानिधान भगवान के महान अनुदान	६८
६.	मनुष्य से कम नहीं मनुष्येत्तर प्राणी	८२
७.	प्रकृति प्रेरणाओं का अनुगमन	९५

"ईश्वर भी नहीं ? जीव भी नहीं ? कैसी विनाशकारी कल्पना है। नो गॉड। नो सोल ? ड्रैडफुल एनिहिलेशन (Dreadful annihilation)। वह एक ऐसे उन्मत (नास्तिक) का प्रलाप है, जो अपनी दूषित कल्पना के आधार पर विश्व रचना की, सामग्री की, चिनगारियों की एक निरंतर श्रृंखला को देखता रहता है और उसका कर्त्ता किसी को नहीं मानता। वह कहता है कि यह सामग्री स्वयं ही प्रकट हुई है, स्वयं ही स्थित है, स्वयं ही विकसित होती है। वह कहता है कि वह समस्त सृष्टि चलती जा रही है, पर उसका कोई स्रोत नहीं। इसका कोई कारण भी नहीं है। इस प्रकार उसकी दृष्टि में यह 'अनंत-चक्र' अंधा, निष्क्रिय और अकारण है।"

—मैडम ब्लावटस्की

ईश्वर है या नहीं है ?

विश्व ब्रह्मांड की आश्चर्यजनक गतिविधियों और प्राणी जगत् में विलक्षण क्रिया-कलापों को देखकर, यह विचार उठना स्वाभाविक है कि इस अद्‌भुत विलक्षण संसार की निर्मात्री, नियंता और पोषक कोई न कोई सर्व-समर्थ विचारवान् सत्ता अवश्य है। अपने आस-पास के विलक्षण जगत् को देखकर ही मनीषियों के मन में उसके कर्त्ता, स्वामी के संबंध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, चिंतन, मनन, शोध और साधना द्वारा उन्हें ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति हुई। न केवल अनुभूति हुई वरन् उस सर्वशक्तिमान् सत्ता के संपर्क सान्निध्य का लाभ उठाने की संभावना भी साकार हुई।

जिन महर्षि-मनीषियों ने ईश्वर सान्निध्य का लाभ और आनंद उठाया, उनके अलावा ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्हें प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का अस्तित्व ही कल्पना-प्रसूत लगता था। यहीं से आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के दो परस्पर विरोधी दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। नास्तिकों का कथन है, ईश्वर में विश्वास रखना अंधविश्वास मात्र है। जब विज्ञान द्वारा ईश्वरीय सत्ता सिद्ध ही नहीं होती, तो उसे माना ही क्यों जाए ? परंतु यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या हम केवल उन्हीं बातों पर विश्वास करते हैं कि जो विज्ञान की कसौटी पर प्रामाणिकता पा चुकी हों ? उत्तर मिलता है नहीं, जीवन के कितने ही आदर्श ऐसे हैं, जिनकी पुष्टि विज्ञान से नहीं, अपितु अंतरात्मा से होती है। नीतिशास्त्र भी ऐसा ही विषय है, जो विज्ञान की दृष्टि से निरर्थक ठहरता है। वस्तुतः जिसे विज्ञान कहा जाता है, वह पदार्थ-विज्ञान है। इस पदार्थ-विज्ञान द्वारा अत्यंत सूक्ष्म ईश्वरीय तत्त्वों तक कैसे पहुँचा जा सकता है ?

अनेकों बातें ऐसी हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थहीन हैं परंतु सामाजिक अभ्युन्नति के लिए वे मेरुदंड के समान हैं। उदाहरणार्थ

विज्ञान की दृष्टि में नर और मादा का यौन संपर्क अत्यंत स्वाभाविक है। पशु-पक्षी भी ऐसा करते हैं। उनमें माता, बहिन या पुत्री के संबंधों का कोई प्रतिबंध नहीं होता। लेकिन मानव-समाज में माता, बहिन या पुत्री के साथ यौनाचार नितांत पापाचार है। परंतु यदि विज्ञान की कसौटी पर यौन-सदाचार व्यर्थ सिद्ध होता है तो क्या हम इसकी व्यर्थता को मानकर माता, बहिन या पुत्री की मर्यादा को छोड़ देंगे ?

विज्ञान के अनुसार जीव, जीव का भोजन है। प्रत्येक प्राणी के लिए अपने स्वार्थ की पूर्ति, पेट और प्रजननपरक जीवन ही प्रधान है। स्वार्थपरता तथा चार्वाकों जैसे स्वच्छंद भोगवाद का विरोध विज्ञान के आधार पर नहीं किया जा सकता। हाँ, समर्थन अवश्य हो सकता है। परंतु यदि परोपकार, करुणा, सहानुभूति, त्याग, सेवा सहिष्णुता जैसी सत्प्रवृत्तियों को मानव जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाए तो सामाजिक सुख-शांति स्वप्नमात्र ही रह जायेगी।

विज्ञान के अनुसार मृत्यु से डरना प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक धर्म है। यदि मनुष्य को भी इस स्वाभाविक धर्म से आबद्ध मान लिया जाए तो मातृभूमि की बलिदेवी पर हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान देने वाले वीर सैनिक प्रकृति-विरोधी एवं महामूर्ख ही कहे जायेंगे। वे जान-बूझकर मृत्युपाश को गले क्यों लगाते हैं ? इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि अनेक प्रश्नों के उत्तर विज्ञान के पास नहीं है और इसी प्रकार ईश्वर की सिद्धि-असिद्धि में भी वह नितांत असमर्थ है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर जिस वस्तु की सत्ता सिद्ध हो, उसे ही माना जाए। चूंकि प्रत्यक्ष के आधार पर ईश्वरीय सत्ता सिद्ध नहीं होती अतएव उसे मानना रूढ़ि या परंपरा मात्र है, परंतु यह तर्क भी उचित नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर प्रत्येक वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा तो यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि हमारा पिता कौन

है ? परंतु माता की साक्षी को ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण मान लिया जाता है।

'ईश्वर दिखलाई नहीं देता इसलिए उसे माना न जाए, यह तर्क नितांत सारहीन है। अनेकों वस्तुएँ ऐसी हैं जो दिखलाई नहीं पड़ती परंतु फिर भी उन्हें अनुभव किया तथा माना जाता है। उदाहरणतः अपने नेत्र में अंजन अपने को ही कहाँ दिखाई पड़ता है ? सरोवर में बादलों के क्रोड से गिरे जलबिंदुओं को कोई देख पाता है ? यद्यपि तारकगणों की सत्ता दिन में भी होती है परंतु सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण वे कहाँ दृष्टिगत होते हैं ? बहुत सूक्ष्म वस्तु भी कहाँ दिखाई देती है ? आकाश में छाए जलकण कहाँ दिखलाई देते हैं ? दूध में यद्यपि मक्खन की सत्ता होती है परंतु यह दिखलाई नहीं पड़ता। जल में नमक घुल जाता है तो दिखलाई नहीं पड़ता। परंतु जल में उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मित्र के घर में जाने पर यदि वहाँ मित्र नहीं मिलता है तो हम उसका अभाव नहीं मानते। इसी प्रकार वस्तु के प्रत्यक्षतः प्राप्त न होने से ही उसका सर्वथा अभाव नहीं मानना चाहिए।

ईश्वर के अस्तित्व से केवल इसलिए मना करना कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण तथा आज के अविकसित विज्ञान के आधार पर सिद्ध नहीं होता, कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। मानव जीवन से संबंधित अनेक प्रश्नों का उत्तर पदार्थ विज्ञान से नहीं अपितु उस अध्यात्म-विज्ञान से सुलझता है, जिसे आज हम पदार्थवादी बनकर, विस्मृत करते जा रहे हैं। ईश्वर का अस्तित्व भी अध्यात्म-विज्ञान से ही सिद्ध होता है। तपःपूति ऋषिजन अपनी दिव्यदृष्टि से उस दिव्य-तत्त्व की अनुभूति करते हैं।

इस नाना नाम—रूपात्मक सृष्टि को बनाने वाला परम पिता परमेश्वर है। बिना कर्त्ता के क्रिया हो ही नहीं सकती। रंग, ब्रुश आदि सभी उपकरण उपस्थित रहने पर भी क्या बिना चित्रकार के चित्र बनेगा ? सृष्टि के जड़-पदार्थों में चेतना भरने वाला तथा कोटि-कोटि

जीवों को बनाने वाला, यह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली कारीगर ही है। सारी प्रकृति उससे व्याप्त है। प्राणियों की चेतना उस विशाल चेतना का ही अंश है। विश्व की सुंदरता और सौम्यता उसकी ही सुंदरता और सौम्यता है। सृष्टि के कण-कण में वह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। जिस प्रकार रजकण और पृथ्वी में कोई विभेद नहीं होता, वह उसका ही अंश होता है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अंतर नहीं। आत्मा, परमात्मा का ही अंश है। परंतु जिस प्रकार बादल से सूरज का प्रकाश प्रतिहत हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान से प्रतिहत होने के कारण हम आत्मतत्त्व को, अपने आपको भूल जाते हैं और लक्ष्य विमुख होकर भटकते रहते हैं।

संसार में हम देखते हैं कि कोई प्राणी तो स्वर्गोपम जीवन व्यतीत करता है परंतु कोई नारकीय यंत्रणाओं में फँसा तिलमिलाता है। सुख प्राप्ति की प्राणीमात्र की स्वाभाविक इच्छा होती है, परंतु ईश्वर ही उसे दुःख भोगने को विवश करता है। समाज की आँखों में, पुलिस की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है, परंतु उस घट-घटवासी परमेश्वर की दृष्टि से हमारा कोई कार्य छिप नहीं सकता। हमारे कर्मों का अच्छा या बुरा फल वह हमें असंभाव्य रूप से देता है। कर्मफल के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

तपोनिष्ठ आर्य-मुनियों ने मानव जीवन में आस्तिकता को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, वह उनकी दूरदर्शिता का परिचायक है। उनकी सूक्ष्म ग्राहिणी बुद्धि ने यह अनुमान लगा लिया था कि मनुष्य एक दिन अपनी बुद्धि एवं प्रकृति का दुरुपयोग कर, कुमार्गगामी बन सकता है तथा शांति एवं सुव्यवस्था के लिए खतरा बन सकता है। इस पथभ्रष्टता से बचाने के लिए ही, उन्होंने आस्तिकता को जीवन का प्रथम आधार बनाया। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, उसकी दृष्टि से हमारा कोई भी कार्य छिप नहीं सकता, उसकी न्याय-व्यवस्था हर किसी के लिए समान है—ये मान्यताएँ पापों से बचाती हैं तथा सदाचार और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन में

सहायक बनती हैं। ईश्वरीय नियमों में विश्वास रखकर ही अब तक की मानव जाति की प्रगति संभव हुई है।

● 'विश्वासं फलदायकम्'

श्री रमेशचंद्र के पास कुछ रुपये हैं। उनके ३ लड़कों उमेश, दिनेश और सुशील में बँटवारा करना है। उमेश को कुल धन का १/२ और दिनेश को १/३ भाग देने के बाद सुशील के लिए कुल सौ रुपये बचे, तो बताओ श्री रमेशचंद्र के पास कुल कितने रुपये थे ?

कल्पना मात्र से यह एक पेचीदा प्रश्न है। आप अपनी बुद्धि से इस प्रश्न को निकालना चाहें तो बहुत कठिन हो जायेगा, क्योंकि आपको उत्तर निकालने के लिए सैकड़ों संख्याओं की कल्पना करनी पड़ेगी और वह सब तब तक गलत होंगी, जब तक ठीक वही संख्या अपने आप कल्पना में नहीं आएगी, भले ही वह संख्या एक दिन, एक सप्ताह, महीने भर या साल भर में आए। कल्पना तो आखिर कल्पना ही है।

इन दिक्कतों से बचने के लिए गणितज्ञों ने कुछ सूत्र ढूँढ़े हैं। उसका आधार 'माना कि उत्तर अमुक है' एक विश्वास है और जब उस विश्वास को प्रयोग में लाते हैं तो वह फलितार्थ शत-प्रतिशत सत्य निकलते हैं, इसलिए हमारा विश्वास करना सार्थक हो जाता है।

आइए विश्वास के आधार पर ऊपर के प्रश्न को हल करें। माना यह धन १ रुपया है। १ का १/२ = १/२ भाग उमेश को दिया गया, १ का १/३ = १/३ भाग दिनेश को दिया गया। कुल १/२ + १/३ = ५/६ भाग २ भाइयों में बाँट दिया गया। अब १ – ५/६ = १/६ भाग शेष रहा। यही हिस्सा सुशील को दिया गया, जो सौ रुपये के बराबर था। ऐकिक नियम के अनुसार चूँकि १/६ = १०० के, इसलिए १ के बराबर ६०० रुपये के। यही उत्तर है और सही भी है, जब कि सारी दुनियाँ में एक छह सौ के बराबर कभी हो ही नहीं सकता। असंभव तरीके से संभव की खोज का नाम विश्वास

है। वह एक समर्थ सूत्र है, जिसके आधार पर ही परमात्मा की खोज की जा सकती है। विज्ञान का रास्ता, कल्पना और भटकाव का है, उसमें संसार के सृजन, विकास और संहार वाली शक्तियों का पता चलेगा तो सही किंतु भीषण संघर्ष, ध्वंस और हिंसा से भरा हुआ यह लंबा रास्ता बड़ा अशांति और असंतोष से पार होगा और आद्यशक्ति तक पहुँचना कठिनाई से ही संभव होगा।

ईश्वर पर विश्वास कर लेने में जहाँ अनेक व्यक्तिगत लाभ हैं वहाँ विश्व-शांति के लिए, ईश्वर विश्वास का लाभ, एक सुदृढ़ आधार पर गणित की तरह निकाले जा सकते हैं। संसार में प्राणियों का आविर्भाव क्यों, कहाँ से हुआ है ? अनेक योगियों में बिखरी प्राण-सत्ता का रहस्य क्या है ? जीवन का उद्देश्य क्या है और उसे किस तरह प्राप्त किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। वह स्थूल का ही अध्ययन और प्रतिपादन कर सकता है, जबकि मनुष्य शरीर की आधी शक्तियाँ भावनामय, विचारमय, संकल्पमय हैं। शारीरिक इंद्रियों की तरह भावनाएँ भी तृप्ति माँगती हैं और उनका अपना अलग क्षेत्र है। जब ईश्वर को मानवीय चेतना की तरह की ही कोई सत्ता मान लेते हैं तो जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। हमारी भावनात्मक शक्ति का विकास होने लगता है।

तमाम रेखागणित (ज्यॉमेट्री) एक बिंदु (पॉइंट) से विकसित होती है। रेखा अनेक बिंदुओं से बनी एक दूरी है, जिसमें लंबाई है किंतु चौड़ाई नहीं। बिंदु वह वस्तु है जिसमें न तो लंबाई है, न मोटाई और न चौड़ाई। ऐसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए। कोई भी बिंदु अंकित किया जाएगा, भले ही दशमलव के आगे कई शून्यों के बाद उसका व्यास आये, पर मोटाई होगी अवश्य। यदि मोटाई हो जाती है तो वह बिंदु नहीं रहता और बिंदु रहता है तो परिभाषा गलत। अस्तित्वहीन वस्तु केवल विश्वास है, उसी पर संपूर्ण रेखागणित का धरातल टिका हुआ है और उसके माध्यम से जो भी अर्थ और निष्कर्ष निकाले जाते हैं, एक और एक

सही निकलते हैं। यह है विश्वास का प्रतिफल। उसी प्रकार ईश्वरीय सत्ता को मान लेने पर व्यक्तिगत कल्याण और समाज का विश्वास के हित के परिणाम सही उतरने लगते हैं। दृश्य न होने पर भी उसकी कल्पना बिंदु की तरह एक शक्तिशाली सिद्धांत है। परमात्मा को भी हम उसी रूप में ले लें, तो इसमें भी मानवता का कल्याण ही सन्निहित है।

मनुष्य समाज की अधिकांश व्यवस्था विश्वास पर ही आधारित है और उसी से हम सुखी हैं। भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, डॉक्टर-मरीज, दुकानदार-खरीददार, सरकार और ठेकेदार सबका काम विश्वास पर ही चल रहा है। विश्वास प्राप्त करके ही, एक साधारण व्यक्ति पार्लियामेंट का सदस्य और प्रधानमंत्री बन जाता है। हमारे विश्वास में इतनी जबर्दस्त शक्ति है कि वह सामान्य-सी परिस्थितियों को कुछ का कुछ बना सकती है। जो केवल दूसरों पर अविश्वास ही अविश्वास करते हैं तो दूसरे चाहे कैसे ही हों, पर अविश्वास करने वाला अपने आप ही दुःखी, अशांत और अव्यवस्थित बना रहता है। विश्वास की शक्ति पर ही संसार टिका हुआ है। हमारे लिए उसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं कि ईश्वरीय शक्तियों पर ही विश्वास करें और यह देखें कि उसके फलितार्थ हमारे जीवन में उसी प्रकार सही उतरते हैं या नहीं जिस प्रकार पत्नी, पिता, माता, भाई-भतीजों पर विश्वास करके परस्पर हँसी-खुँशी, प्रेम और आनंद का जीवन जी लेते हैं।

रेखागणित की एक स्वयं सिद्ध साध्य (एक्सियम) यह है—'अ' व 'ब' एक सरल रेखा है। 'उ' बिंदु पर एक दूसरी सरल रेखा 'स' 'द' उसे काटती है। इस प्रकार 'उ' बिंदु पर बने हुए दोनों कोणों का योग बराबर दो समकोण होता है। यह एक विश्वास है, उसकी सत्यता का कोई आधार नहीं है। हम चाहें तो उसके टुकड़े (ग्रेजुएशन) ऐसे करें कि वह १८० डिग्री न होकर २७९ डिग्री हो जाए या कुल ३१ डिग्री ही रखें। १८० डिग्री एक विश्वास की गई संख्या मात्र है और संसार में अब तक जितनी भी रेखागणित

विकसित हुई है, सभी त्रिभुजीय (ट्रेंग्युलर) प्रमेय-निर्मेयों का आधार केवल यह प्रारंभिक विश्वास है और यह विश्वास इतना सही उतरता है कि हम पृथ्वी में बैठे-बैठे सूर्य, चंद्रमा, बुध, हर्शल प्लूटो, एंटलारि आदि विस्तृत तारा-मंडल (गेलेक्सी) की दूरी नाप लेते हैं। एक सरल रेखा पर दूसरी सरल रेखा खड़ी होकर दो समकोण बनाती है, इस विश्वास के द्वारा ही अंतरिक्षयान चंद्रमा, मंगल तथा शुक्र तक चला जाता है। यह उस विश्वास का ही फलितार्थ है; जो बहुत हल्का, बिलकुल छोटा वाला निर्जीव विश्वास है, जबकि ईश्वर एक समर्थ विश्वास है, जिसके द्वारा कीट-पतंगों के जीवन से लेकर वृक्ष-वनस्पतियों के अस्तित्व तक का भेदन इसी शक्ति के द्वारा किया और आध्यात्मिक रहस्यों का पता लगाया जा सकता है।

सारी खगोल विद्या की जानकारी वृत्त-सिद्धांतों पर आधारित है। एक विश्वास या स्वयं सिद्ध प्रतिज्ञा (एक्सियम) है—तुल्य चापों (ईक्वल आर्म्स) पर आधारित कोण तुल्य (ईक्वल) होते हैं। एक गोलाकार वृत्त (सर्किल) में कहीं भी 'अ ब' और 'स द' दो समान के चाप (आर्क) लीजिए। अब चाप (आर्क) 'अ ब' को उस वृत्त के किसी भी बिंदु 'य' से मिलाइए, चाप 'स द' को भी उसी प्रकार किसी बिंदु 'र' से मिलाइए। इस तरह बिंदु 'य' और 'र' पर बने कोण बराबर होते हैं। यह एक स्वयं सिद्ध साध्य है, उस पर सारी ग्रह रेखागणित टिकी हुई है, यदि कोई अविश्वास करे कि हम यह बात नहीं मानेंगे तो उसके लिए शेष सारे अभ्यास गलत हो जाते हैं। पर यह स्वयं सिद्ध साध्य फलित होती है तो उसके आधार पर सारे विश्व में भ्रमण कर आना उसी तरह संभव हो जाता है, जिस प्रकार हम अपने किसी जाने-माने शहर तक घूम आते हैं। मान्यता पर चलने वाली गणित जब ऐसे ठोस और सत्य फलितार्थ प्रस्तुत कर सकती है तो हम ईश्वर पर विश्वास करके, क्या विश्व के रहस्यों का मूल्यांकन नहीं कर सकते ? ऐसी एक विचारधारा ऋषि के अंतरंग में उठी थी और उन्होंने प्रश्न करके, सृष्टि के सब तत्त्वों को खोज डाला। वेदों में सन्निहित ज्ञान वही विज्ञान है, जिसको पाने

के लिए आज पाश्चात्य वैज्ञानिक भारी असंतुलन, यंत्रीकरण, हिंसा और असामाजिकता पैदा कर रहे हैं। फिर भी वस्तु स्थिति की खोज नहीं कर पा रहे हैं। सिद्धांत बनते हैं। अगला वैज्ञानिक उस सिद्धांत में या तो संशोधन कर देता है या काटकर रख देता है। संशोधनकर्त्ता भी अपने आपको पूर्ण विश्वस्त नहीं मानता। उसे तब भी यह आशंका बनी रहती है कि कहीं उसी के रहते हुए ही उसका सिद्धांत काट न दिया जाए। अनेक नोबल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिकों के सिद्धांतों के धुर्रे उड़ गए। तब यही मानना पड़ता है कि पाश्चात्य जगत् जिस विज्ञान पर ऐंठा हुआ बैठा है, उसकी सत्यता निरपेक्ष नहीं है।

विशाल ब्रह्मांड के रहस्यों, पृथ्वी पर होने वाली पुनर्जन्म की घटनाओं अतिमानसिक शक्ति, बौद्धिक क्षमता, आत्मशक्ति के करतबों, दूरदर्शन, पूर्णानुभूतियों, स्वानुभूतियों, भविष्य के ज्ञान आदि के प्रति हमारे मस्तिष्क में रचनात्मक और उपयोगी दृष्टिकोण ईश्वर को मान लेने पर ही बनता है।

जब समस्त सृष्टि के निर्माण और विभिन्न परिस्थितियों में होकर प्राणियों के विकास पर विचार करते हैं तो हमें ईश्वरीय योजना में कोई दोष लगाने का कारण प्रतीत नहीं होता। उस प्रकार का दोषारोपण दो ही प्रकार के व्यक्ति करते हैं। एक तो वे जो विद्या का अंहकार करने वाले हैं, जिन्होंने अभी वास्तविक ज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया है और विश्व रचना तथा व्यवस्था जैसी विशाल समस्या पर सर्वांगपूर्ण तरीके से विचार कर सकना, जिनके लिए असंभव है।

ऐसे व्यक्तियों की भर्त्सना करते हुए 'थियोसोफी समाज' की संस्थापिका मैडम ब्लैवटस्की ने बहुत जोरदार शब्दों में कहा है—

ईश्वर भी नहीं, जीव भी नहीं ? कैसी विनाशकारी कल्पना है। (नो गाड, नो सोल ? ड्रैडफुल एनिहिलेशन) यह एक ऐसे उन्मत्त (नास्तिक) का प्रलाप है, जो अपनी दूषित कल्पना के आधार पर विश्व रचना की सामग्री की चिनगारियों की एक निरंतर शृंखला तो

देखता रहता है और उसका कर्ता किसी को नहीं मानता। वह कहता है कि वह सामग्री स्वयं ही प्रकट हुई है, स्वयं ही स्थित है, स्वयं ही विकसित होती है। वह कहता है, यह समस्त सृष्टि चलती जा रही है, पर इसका कोई स्रोत नहीं है। इसका कोई कारण भी नहीं है। इस प्रकार उसकी सृष्टि में यह 'अनंत-चक्र' अंधा, निष्क्रिय और अकारण है।

ईश्वर तथा धर्म पर अविश्वास रखने वाले प्रायः यह प्रश्न उठाया करते हैं कि 'जब ईश्वर दयालु और कल्याणकारी है तो संसार में पाप और दुःख की अधिकता क्यों ? आस्तिक लोग स्वयं भी कहते हैं कि संसार में धर्मात्मा कम और धर्म विमुख ज्यादा हैं। ईमानदारों की अपेक्षा बेईमानों की संख्या अधिक है।' ऐसी स्थिति में इस बात पर कैसे विश्वास किया जाए कि एक महान चैतन्य सत्ता इस सृष्टि की रचयिता और संचालक है ? यदि वास्तव में इसकी रचना किसी बुद्धि भंडारयुक्त चेतन शक्ति द्वारा हुई होती तो संसार में सर्वत्र सुख, आनंद और पुण्य-कर्मों का ही प्रसार देखने में आना चाहिए था।

वास्तव में यह एक टेढ़ा प्रश्न है और इसका उत्तर देने में बहुत-से आस्तिक लड़खड़ा जाते हैं। जिन योरोपियन ईश्वरवादियों ने इसका उत्तर दिया है, उन्होंने कहीं-कहीं अपनी असमर्थता भी स्वीकार की है। 'थीइज्म' (आस्तिकवाद) के लेखक श्री फ्लिंट ने इसका उत्तर देते हुए कहा है, 'यदि तुम पूछो कि ईश्वर ने सबको धर्मात्मा क्यों नहीं बनाया तो इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर हो ही नहीं सकता और न उससे कुछ लाभ है। यदि तुम कहो कि ईश्वर ने मनुष्य को देवताओं की तरह क्यों नहीं बनाया तो तुम यह भी प्रश्न कर सकोगे कि उसने देवताओं से भी बहुत ऊँचे दर्जे के प्राणी क्यों नहीं बनाए ? इस प्रकार 'अव्यवस्था-दोष' उत्पन्न होता है।

फ्लिंट को इस प्रकार का समाधान इस कारण करना पड़ा है कि उनका ईश्वर पर विश्वास ईसाई धर्मानुकूल है, जिसका कहना

है कि पहले ईश्वर ही अकेला था, वह एकमात्र अनादि है। उसी ने जीव और अन्य समस्त सांसारिक पदार्थों की रचना की है। इस प्रकार की मान्यता के विरुद्ध ही नास्तिकों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि ईश्वर को ऐसी सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी, जिसमें सदैव पाप और वैमनस्य की वृद्धि होती रहे ? पर भारतीय धर्म की मान्यता में ऐसी त्रुटियाँ नहीं हैं। उनके अनुसार ईश्वर जीवों को बनाता नहीं, वरन् उनका अस्तित्व स्वयंमेव है और ईश्वर उनकी भलाई के लिए सृष्टि के पदार्थों की रचना करता है। पर उसने जीव को परतंत्र अथवा दास की तरह नहीं बनाया है, जैसा अन्य कई धर्मों में विचार किया जाता है। हमारी मान्यता यह है कि ईश्वर जीवों की उन्नति के लिए तरह-तरह के साधन उपस्थित करता है। उनको सत्कर्मों के लिए प्रेरणा भी देता है, पर उसने कर्म करने में उनको स्वतंत्र ही रखा है। पाप या पुण्य करना उनकी रुचि और मनोवृत्ति पर ही आधारित है। जब वे पुण्य कर्म करते हैं तो उसके बदले में वे शुभफल, सुख पाते हैं और जब पाप करने पर उतारू हो जाते हैं, तब उनको दंड मिलता है। पर यह शुभ परिणाम और दंड भी स्वयं ईश्वर नहीं देता वरन् उसने ऐसी व्यवस्था बना दी है कि प्रकृति स्वयं ही यह कार्य पूरा कर लेती है। भारतीय धर्म के अधिकांश विचारकों ने प्रकृति को ईश्वर की सहचरी या अनुचरी माना है इसलिए वह जो कुछ करती है, उसका कर्ता ईश्वर ही समझा जाता है।

जिस प्रकार का आक्षेप लोग पाप के विषय में करते हैं वैसा ही भाव दुःख के विषय में भी प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और जीवों का भला भी चाहता है तो उसने ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं की कि संसार में दुःख का नाम ही नहीं रहता ? इस शंका का उत्तर देते हुए आलफ्रेड रसन वालेस ने अपने ग्रंथ 'द वर्ल्ड ऑफ लाइफ' (जीवन जगत्) में लिखा है—

कुछ आलोचकों को संसार के दुःख देखकर प्रायः घृणा हो जाती है और वे कहने लगते हैं कि यह सृष्टि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्

और दयालु सत्ता की बनाई नहीं हो सकती। पर इन लेखकों (अर्थात् आक्षेप करने वालों) और विकासवादियों ने कभी दुःख की जड़ तक पहुँचने का यत्न नहीं किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि दुःख या कष्ट विकास के लिए बड़ी आवश्यक वस्तु है। स्वयं डारविन ने इस नियम पर बड़ा बल दिया है कि कोई इंद्रिय, शक्ति या वेदना किसी प्राणी में उस समय तक नहीं उत्पन्न होती, जब तक उसका, उसकी जाति के लिए उपयोग न हो। इस नियम पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी-वर्ग में उतना ही दुःख उत्पन्न करता है, जितने ही उसके लिए आवश्यकता है।

फ्लिंट महोदय ने अपनी 'थीइज्म' में इसका समाधान कुछ भिन्न शब्दों में किया है—

'दुःख परिश्रम के लिए प्रेरित करता है और परिश्रम द्वारा ही हमारा जीवन, हमारी शक्तियाँ नियमित और विकसित हो सकती हैं। इच्छा आवश्यकता का अनुभव कराती है और आवश्यकता का अनुभव ही दुःख माना जाता है। परंतु यदि जीवों में इच्छाएँ न हों और इन इच्छाओं द्वारा उत्पन्न हुए प्रयत्न न हों तो फिर जीव रहेंगे ही क्या ? क्या वह ऐसे ही सुंदर और विशाल होंगे, जैसे अब हैं ? यदि खरगोश को भय न हो तो क्या वह तीव्रगामी होगा, जैसा अब है ? यदि शेर को भूख न लगे तो क्या वह उतना ही बलिष्ठ होगा, जितना कि अब है ? यदि मनुष्य को समय-समय पर संघर्ष न करना पड़े तो क्या वह ऐसा प्रयत्नशील, ऐसा बुद्धिमान, ऐसा चतुर, शिक्षित होगा जैसा अब है ? इस प्रकार आवश्यकता से उत्पन्न दुःख प्राणियों की प्रगति और पूर्णता का साधन है अर्थात् चाहे आरंभ में यह बुरा जान पड़े, पर इसका परिणाम अच्छा होता है। पूर्णता स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है और उसमें हमें आनंद न भी प्राप्त हो तो वह एक उच्चकोटि का साध्य (प्रयोजन) मानी जाएगी। इसलिए जो 'दुःख' इस प्रयोजन की पूर्ति करता है, उसे बुरा कैसे कह सकते हैं ?

'दूसरी बात यह भी है कि दुःख पूर्णता का ही साधन नहीं है वरन् वही सुख का साधन भी है। शायद प्राणियों के शरीर ही ऐसे बने हैं कि यदि वह दुःख का अनुभव न करते तो सुख का अनुभव भी नहीं कर पाते। चाहे यह बात बिल्कुल ठीक हो या न हो परंतु एक बात तो स्पष्ट ही है कि समस्त जीवन जगत् में वह 'दुःख' वास्तव में आनंद का साधन होता है, जो प्राणियों को परिश्रम के लिए उत्तेजित करता है। दुःख की उपयोगिता छोटे प्राणियों में मिलती है। दुःख का महत्त्व जितना शारीरिक बातों में है, उनसे कहीं अधिक मानसिक बातों में मिलता है। यह दुःख आत्मा को शुद्ध बनाने और शिक्षा देने में परम सहायक है। दुःख से हृदय की कठोरता कम हो जाती है, दुःख से अभिमान का दमन होता है, दुःख से साहस और धैर्य बढ़ता है, दुःख से सहानुभूति का आधिक्य होता है, दुःख से धर्म पर श्रद्धा होती है। ऐसी अवस्था में कोई भी संसार में दुःखों को देखकर, उसके लिए परमात्मा को दोषी बनाने के बजाय धन्यवाद ही देगा।'

जो बात फ्लिंट ने आज कही है, वह बात हमारे धर्म-ग्रंथ 'महाभारत' में हजारों वर्ष पूर्व कह दी गई थी। जब भगवान् कृष्ण ने वनवास के पश्चात् कुंती से अभिलाषित वर माँगने को कहा तो उसने अपनी भावना इन शब्दों में प्रकट की कि, "हे भगवन् ! आप हमको दुःख की अवस्था में रखा करें, क्योंकि उस दशा में तो हमको आपका स्मरण और प्रेम बना रहता है, पर जब हम सुखों में पड़ जाते हैं तो आपको भूल जाते हैं।" इस प्रकार संसार में सच्चा सुख ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखते हुए पूर्ण परिश्रम के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करने में ही है।

विश्वास एक उत्पादक शक्ति है, जो सृष्टि के गहन अंतराल से ज्ञान के हीरे-मोती खोज-खोज कर हमारे ज्ञान-बुद्धि और वर्चस्व को महान् बना देता है। वैज्ञानिक फलितार्थों से यह निश्चय हो चुका है कि ईश्वर एक प्रकार की पूर्ण शक्ति है और उस पूर्णता का कितना भी अंश निकाल लेने पर पूर्णता ही शेष रहती है। बात कुछ

अटपटी लगती है पर है, सत्य। एक चुंबक पत्थर को कागज में रखकर, उसकी शक्ति का चार्ट तैयार कर लें। अब उस चुंबक को लोहे से स्पर्श कराएँ। लोहा भी चुंबक बन जाता है। चुंबक को हटाकर फिर उसका चार्ट तैयार करें तो पता चलेगा कि उसके आवेश का काफी अंश लोहे में खिंच जाने के बाद भी उसकी मूल शक्ति में कोई अंतर नहीं पड़ा। उसी प्रकार केवल विश्वास के आधार पर अपनी चेतना का विश्व चेतना के साथ संबंध जोड़कर हम उन शक्तियों को विकसित और व्यवस्थित कर सकते हैं, जिन्हें ईश्वरीय वैभव के रूप में जाना जाता है और जिनसे हमारे जीवन का वास्तविक अर्थ फलित होता है।

अंकगणित में कुल दस अक्षर हैं। १ से लेकर ६ तक पहुँचने के बाद वैज्ञानिकों ने देखा कि इस तरह कितनी ही संख्या कल्पित करते चलें तो उनका अंत नहीं हो सकता। इसलिए उन्हीं ६ अंकों से आगे की संख्याएँ बनाई गईं और पूर्णता के लिए एक ऐसी संख्या की कल्पना की गई, जिससे संख्याओं की इकाई, दहाई या सैकड़े की किसी भी दौड़ को विश्राम दिया जा सके। उस संख्या का नाम है शून्य (जीरो)। इस शून्य पर अंकगणित की लंबी-लंबी गणनाएँ टिकी हुई हैं, वह सत्य भी निकलती हैं, पर शून्य अपने आप में क्या है, थोड़ा इस पर भी दृष्टि डालें। ३/४ का अर्थ है कि किसी वस्तु के चार टुकड़े किए जाएँ और उनसे ३ टुकड़े लिए जाएँ तो वह ३/४ कहलायेगा। दो भागों में १ टुकड़ा लें वह १/२ कहलायेगा। भिन्न-गणित इन टुकड़ों (पार्टीशन्स) पर ही आधारित है और उससे बड़े लंबे प्रश्नों को सीमित करना संभव हो गया है। पर यदि किसी वस्तु के शून्य टुकड़े करें और उसमें से एक टुकड़ा लें तब १/० और एक बटा शून्य का क्या अर्थ—अनंतता (इनफिनिटी)। दो, चार, छह, दस किन्हीं संख्याओं के शून्य—टुकड़े करें, उत्तर वही अनंतता आता है, जिसका कुछ भी अर्थ नहीं है। अनंतता कोई संख्या ही नहीं है, जबकि शून्य को एक संख्या माना गया है। उसे हटा दें तो तमाम गणित फेल हो जाए। किसी वस्तु के चार

बराबर-बराबर भाग करें और उसमें से शून्य भाग लें तो उत्तर आयेगा शून्य (शून्य नहीं)। शून्य में शून्य घटाने का फलितार्थ शून्य और अनंतता है। यह कोई बात नहीं हुई, पर उन्हें निकाला नहीं जा सकता, क्योंकि उस पर सारा अंकगणित का आधार बना हुआ है। विश्व की सार्थकता को समझने के लिए वैसे ही हमें भी अनिवार्यतः एक बिंदु की कल्पना करनी पड़ती है। उसे ईश्वर मानना पड़ता है। यदि उसे मान लेते हैं तो निश्चित है कि समाज और देश, अनुशासित, व्यवस्थित और मैत्रीपूर्वक रह सकते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व को केवल विश्वास के आधार पर ही प्रमाणित किया गया नहीं मानना चाहिए। विश्वास की आवश्यकता तो इसलिए है कि उस सर्वसमर्थ सत्ता के संपर्क सान्निध्य से लाभान्वित हुआ जा सके। अन्यथा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में ढेरों आधार अपने आसपास के संसार में सदैव देखे जा सकते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से यदि चारों ओर बिखरे हुए संसार को देखा जाए तो ईश्वर के अस्तित्व को न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देगा। ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ? इन प्रश्नों का उत्तर वही पा सकता है, जो यह जानने का गहराई से प्रयास करे कि प्रश्नकर्ता कौन है, कहाँ है, क्यों है, कैसा है ? क्योंकि ईश्वर तो चारों ओर विद्यमान है। प्रश्नकर्ता अपने भीतर-बाहर चारों ओर फैले संसार को जितना अधिक जानेगा, ईश्वर के उतना ही समीप पहुँचेगा।

❐ ❐

अद्‌भुत मनुष्य शरीर और अद्‌भुत उसकी रचना

ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना किसी ऐसे व्यक्ति के रूप में नहीं की जा सकती, जो अपने अधीनस्थों को आदेश-निर्देश देता हो, उन्हें किसी कार्य को संपन्न करने का तौर-तरीका बताता हो अथवा किन्हीं क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप करता हो। वस्तुतः ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है। उसके अस्तित्व को व्यक्ति के रूप में प्रमाणित भी नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व का दर्शन, सत्ता का अनुभव एक नियम व्यवस्था के रूप में ही किया जा सकता है, जिसके अनुसार यह सारा जगत् चल रहा है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर उतरते हुए उस नियम व्यवस्था को जीवंत और ज्वलंत रूप में देखा जा सकता है। स्थूल की व्यवस्था और क्रमबद्धता को भी गंभीरतापूर्वक निरीक्षण करते हुए जाना-समझा जा सकता है। किसी भी पदार्थ का गहरी दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सहज ही उसके सौंदर्य व वैभव को जाना-समझा जा सकता है। दूर जाने की जरूरत नहीं। सबसे समीपवर्ती पदार्थ अपने शरीर पर ही दृष्टि डालें और उसकी परत (चमड़ी) को निहारें तो स्थूल और सूक्ष्म के अंतर को समझ सकना संभव हो सकता है। चमड़ी ऊपर से देखने में एक भूरे रंग की प्लास्टिक की थैली जैसी लगती है, जिसके भीतर सड़ा-गला, कूड़ा-कवाड़ा मात्र भरा हुआ है। किंतु उसी को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि इसमें झिल्ली की पतली परत में कितने बड़े कल-कारखाने जैसी हलचलें हो रही हैं ?

हमारी त्वचा के तीन हिस्से हैं—(१) ऊपरी चमड़ी (२) भीतरी चमड़ी (३) हड्डी के ऊपर के ऊतक। ऊतकों वाली परत में रक्त-वाहिनयाँ, तंत्रिकाएँ और वसा के कण होते हैं।

एक वर्ग इंच त्वचा में लगभग ७२ फुट लंबाई वाला तंत्रिका जाल बिछा रहता है और इतने ही स्थान की रक्त-वाहिनी नलिकाएँ १२ फुट से अधिक ही लंबी होती हैं। ये रक्त-वाहिनियाँ शीत-ताप नियंत्रक होती हैं। ठंड में सिकुड़ जाती हैं और गर्मी में फैल जाती हैं, सर्दी में सिकुड़ने से कम ताप खर्च होता है और शरीर का ताप सामान्य बना रहता है। गर्मी में फैलने पर, ताप के अधिक व्यय से यही संतुलन बना रहता है। वाहिनियों, तंत्रिकाओं और वसा के कणों के ही कारण चमड़ी हड्डियों से चिपकी रहती हैं। आयु वृद्धि के साथ-साथ जब वसा-कण सूखने लगते हैं, तो चमड़ी झुर्रीदार होती जाती हैं। भीतरी चमड़ी में तंत्रिकाओं, रक्त-वाहिनियों के साथ ही पसीने की ग्रंथियाँ, स्निग्धता की ग्रंथियाँ और रोमकूप होते हैं। तंत्रिकाएँ त्वचा स्पर्श से उठी अनुभूति तरंगें, टेलीफोन के तार की तरह मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं और मस्तिष्कीय, निर्देश-संदेश विभिन्न अवयवों तक ले जाती हैं।

लगभग २ लाख स्वेद-ग्रंथियाँ शरीर के हानिकारक पदार्थों को पसीने के रूप में निकालती रहती हैं। पसीना निरंतर रिसता रहता है। भले वह दीखता बूँदों के रूप में बाहर जाने पर ही है। पसीने के रूप में सतत रिसती गंदगी की परत चमड़ी पर जमने लगती है। स्नान द्वारा उसकी सफाई जरूरी है। सफाई न होने पर स्वेद बहाने वाले छेद बंद हो जाते हैं और यही दाद, खाज, जुएँ आदि विकारों का कारण बनता है।

चमड़ी के नीचे हैं मांसपेशियाँ। मांसपेशियाँ सुदृढ़ व संतुलित रहीं तो स्वास्थ्य और सौंदर्य झलकता है। फैली, सूखी, बेडौल हुईं तो शरीर कुरूप हो जाता है। अनावश्यक आराम अथवा अत्यधिक श्रम दोनों ही मांसपेशियों को अशक्त और बेडौल बनाते हैं। शरीर के सभी अवयवों को समुचित श्रम का अवसर मिलने से वे सुडौल रहती हैं। श्रम-संतुलन ही व्यायाम है। मांसपेशियों की बनावट और भार के आधार पर ही व्यक्ति पतला या मोटा दिखता है।

मांसपेशी बारीक तंतुओं से मिलकर बनती हैं। ये बारीक तंतु अपने से एक लाख गुना भार उठाने में समर्थ होते हैं। मांसपेशियों में तीन चौथाई पानी और एक चौथाई प्रोटीन होता है।

मांसपेशियाँ सीधे मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होती हैं। कुछ मांसपेशियों की गतिविधियाँ हमें अनायास ही चल रही दीखती हैं, स्वयं संचालित-सी। जैसे—फेफड़ों का सिकुड़ना-फैलना, हृदय का धड़कना, रक्त का दौड़ना, पलकों का झपकना, भोजन का पचना और मल का बाहर निकलना आदि। ये क्रियाएँ अनायास नहीं होती, बल्कि हमारे अचेतन मन के अधीन होती हैं। शेष मांसपेशियाँ सचेतन मन के द्वारा नियंत्रित-निर्देशित दिखती हैं।

मांसपेशियों को प्रशिक्षित अनुशासित किया जा सकता है। नृत्य, सर्कस आदि में यह प्रशिक्षण व अभ्यास ही काम आता है। उछलना, कूदना, मुड़ना आदि हरकत मांसपेशियों की लोच के कारण ही संभव होती हैं। इन्हीं लोचदार मांसपेशियों के कारण चोट लगने पर भी हमारी हड्डियाँ प्रायः बच जाती हैं। वरना वे चाहें जब टूट जाएँ। पुरुषों की पेशियाँ स्त्रियों से अधिक कड़ी व दृढ़ होती हैं। शरीर में हाथों की पेशियाँ अधिक सशक्त होती हैं।

यह तो चमड़ी और उसके साथ चिपके हुए पेशी-संस्थान की बात हुई, इससे नीचे के अवयव कितनी विचित्र हलचलों में अहर्निश लगे रहते हैं। गुर्दे और जिगर के दो अवयवों पर शरीर शास्त्रानुमोदित आरंभिक ज्ञानस्तर की दृष्टि डालकर भी इसकी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। अवयवों में सबसे छोटे पुर्जे हैं—दो गुर्दे। वे रीढ़ की हड्डी से सटे, भूरे-कत्थई आकार के, मुट्ठी के बराबर, देखने में ऐसे लगते हैं, मानों सेम के बड़े बीज हों। वजन डेढ़ सौ ग्राम—मुख्य काम मूत्र-निर्माण अर्थात रक्त का अनावश्यक एवं गंदगी भरा जल छाँट-छाँटकर अलग करना और बाहर निकालना। बाँयी ओर का गुर्दा थोड़ा ऊपर होता है और दाँयी ओर का थोड़ा-नीचे, ताकि सामान्य क्रिया-कलाप में कोई कठिनाई न हो। प्रत्येक गुर्दा ४ इंच के करीब लंबा, ढाई इंच चौड़ा और दो इंच

मोटा होता है। रक्त में घुले रहने वाले नमक, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम आदि की मात्रा में न बढ़े, क्योंकि इनके बढ़ने का शरीर पर गलत असर पड़ेगा, इसके लिए गुर्दे सदा सतर्क रहते हैं। ये रक्त में क्षारीय अम्लीय अंश को भी संतुलित रखते हैं।

एक घंटे में दोनों गुर्दे इतना रक्त छानते हैं कि वजन लेने पर उसका भार शरीर से दुगुना निकले। इस तरह गुर्दे छलनी का काम करते हैं। छाने हुए रक्त का उपयोगी अंश गुर्दों की नलिकाएँ रोक लेती हैं। इन नलिकाओं की संख्या दस लाख से अधिक होती है, यदि इन्हें लंबाई में एक कतार में फैलाया जाए तो ये १० किलोमीटर लंबी निकलेंगी। नलिकाएँ रक्त से छाने हुए विटामिन, शर्करा, हारमोन और अमीनो अम्ल तो रक्त को वापस दे देती हैं और नमक तथा अन्य विजातीय द्रव्यों को गुर्दे शरीर के बाहर कर देते हैं। अनावश्यक नमक यदि शरीर में ही रुक जाए, तो सूजन शुरू हो जाए। प्रतिदिन दो लीटर मूत्र बनाकर गुर्दे नमक, फास्फेट, सल्फेट, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, लोहा, क्रिएटाइनिन, यूरिया, अमोनिया, यूरिक एसिड, हिप्यूरिक एसिड, नाइट्रोजन आदि की अनावश्यक मात्रा शरीर के बाहर धकेलते रहते हैं। मूत्र सामान्यतः हल्का-पीला होता है। दोनों गुर्दों में परस्पर सहयोग का क्या कहना ? एक खराब हो जाए तो दूसरा उसका भार स्वयं संभालकर पूरी तरह दायित्व का निर्वाह करता है।

इसी तरह का एक अन्य छोटा पुर्जा है—जिगर। स्त्रियों का जिगर पुरुषों से थोड़ा हल्का होता है। पुरुषों का जिगर सामान्यतः सवा से डेढ़ किलोग्राम रहता है। जिगर दाहिनी पसलियों के नीचे तनपुट से सटा रहता है और शरीर का एक चौथाई रक्त इसमें ही भरा होने से भूरे, लाल रंग का दीखता है तथा टटोलने में कठोर लगता है। इस जिगर की कोशिकाएँ विलक्षण हैं। एक बार नष्ट होने पर वे दुबारा बन जाती हैं। इसी से जिगर का तीन चौथाई हिस्सा नष्ट भी हो जाए तो शेष एक चौथाई से काम चल सकता है। कुपोषण के कारण जिगर का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता और

पाचन संबंधी अनेक रोग हो जाते हैं। संतुलित आहार द्वारा इन्हें पर्याप्त प्रोटीन मिले तो ये स्वस्थ रहते हैं। प्रोटीन की कमी से कमजोर हो जाते हैं।

गुर्दे और जिगर की सामान्य हलचलें भी यों कम आश्चर्यजनक नहीं हैं, पर जब उनके सहयोग से चलने वाले शरीर संतुलन की बात सोचते हैं तो प्रतीत होता है, उनका जीवन धारण में कितना अधिक महत्त्व है ? समझने को तो हृदय और मस्तिष्क को जीवन का आधार कहा जाता है। किंतु उसकी सत्यता को चुनौती दिए बिना यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त दो पुर्जों में तनिक भी खराबी आ जाए तो दुर्बलता, रुग्णता तथा मरण की परिस्थिति आ धमकने में तनिक भी देर न लगेगी। दोनों समूचे शरीर के आधारभूत रक्त-संस्थानों को स्वस्थ, स्वच्छ और सशक्त रखने की आधार-भूत भूमिका निबाहते हैं। पर सामान्यतया उनका क्रियाकलाप कोई अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।

बाल जैसी निर्जीव तथा जीवन में सैकड़ों बार काटकर फेंक दी जाने वाली वस्तु भी अपने आप में विशिष्ट और अनुपम है। रोमकूपों से बाल निकलते हैं। ये रोमकूप खोपड़ी की ऊपरी चमड़ी के भीतरी लगभग एक तिहाई इंच धँसे होते हैं। वहीं से बाल अपना पोषण करते हैं। सामान्यतः मनुष्य के सिर में १ लाख २० हजार बाल होते हैं। ये महीने में तीन चौथाई इंच बढ़ते हैं। पर क्रमशः इनकी वृद्धि-दर घटती ही जाती है। लगातार दो वर्ष तक बढ़ने के बाद सामान्यतः बालों का बढ़ना रुक जाता है। १½ वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक एक बाल की उम्र होती है। उम्र पूरी होने के बाद वह जड़ से टूट जाता है और उसकी जगह नया बाल निकल आता है।

बाल सदा तिरछे निकलते हैं। पर कड़ाके की ठंड में या डर के मारे अथवा रोमांच होने पर बाल खड़े हो जाते हैं। बालों की जड़ों में छेदों द्वारा चिकनाई पहुँचती है। रोमकूपों से जितनी स्निग्धता निकलेगी, बाल उतने ही कोमल और चिकने होंगे। पेट या

दाँत खराब होने पर यह स्निगधता नहीं निकल पाती और बाल उम्र के पहले सफेद होने लगते हैं। वृद्धावस्था में रोमकूप शुष्क होने लगते हैं, तब बालों की श्यामलता सफेदी में बदलने लगती है।

बालों का मूल्यांकन यों शोभा, शृंगार के निमित्त ही किया जाता है और उनकी साज-संभार में इसी तथ्य को प्रश्रय दिया जाता है कि चेहरे की सुंदरता पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है ? स्थूल दृष्टि से नीचे उतरकर, उनके साथ जुड़े हुए वसा एवं प्रोटीन प्रक्रिया की परिस्थिति को समझा जा सके तो वे मोटरों की तरह मशीन की भीतरी स्थिति का परिचय देते पाए जाएँगे। इतना ही नहीं उनके सहारे मस्तिष्कीय स्तर तथा भावनाओं के उभार का भी पता चल सकता है। पंचकेश रखने तथा उनका मुंडन करा डालने की आध्यात्मिक परंपराओं के पीछे मनःसंस्थान को अमुक दिशा में मोड़ने-मरोड़ने के लिए सारगर्भित प्रयत्न किया जाता है।

बात चमड़ी, मांसपेशी, गुर्दे, जिगर या बालों की विवेचना करने की नहीं, वरन् यह बताने की है कि मोटी दृष्टि से इनका कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता, पर उनकी कार्यक्षमता और उपयोगिता कितनी अधिक है, यह समझना तब संभव होता है, जब उनसे विकृत हो जाने पर उत्पन्न होने वाले विग्रहों की विभीषिका सामने आती है।

अवयवों की विवेचना तो बड़ी बात है, उनकी सबसे छोटी इकाई 'जीवाणु' का यदि पर्यवेक्षण किया जाए, तो प्रतीत होगा कि जिस प्रकार जड़ ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व छोटा-सा परमाणु करता है, ठीक इसी प्रकार चेतन जगत् की समस्त हलचलें जीवाणु के भीतर मौजूद हैं। परमात्मा की प्रतीक-प्रतिमा जीवात्मा है। समूचा मनुष्य अपने वंशजों की असंख्य परंपराओं को समेटे हुए छोटे-से शुक्राणु में बैठा रहता है। शुक्राणु भी बड़ी बात हुई उसके भीतर पाए जाने वाले अति सूक्ष्म गुण सूत्रों की स्थिति और भी अधिक चकित करने वाली है। उसमें व्यक्तित्व की असंख्य धाराओं का, स्तरों का ऐसा संगम है कि लगता है स्थूल जीव वृक्ष के मूल में इस बीज सत्ता का ही प्रभाव और कर्तृत्व परिलक्षित हो रहा है।

● मनुष्य और जीवन क्या है ?

मनुष्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान के पास बहुत ही साधारण है, उसे सही मान लेने पर मानवी सत्ता अत्यंत तुच्छ और उपहासास्पद बन जाती है। रसायनशास्त्रियों की दृष्टि में मानव शरीर अनेक रासायनिक यौगिकों का सम्मिश्रण है। यह यौगिक प्रायः पंद्रह तत्त्वों से बने हैं, ये हर दिन खर्च होते हैं और नये आधारों से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आय-व्यय का संतुलन बना रहता है।

केमिस्ट्री ऑफ मैटिरियल्स के अनुसार शरीर को सौ इकाई का मानकर उसमें तत्त्वों का प्रतिशत अनुपात इस प्रकार बताया गया है। (१) आक्सीजन ६५% वायु और जल से प्राप्त (२) हाइड्रोजन १०% पानी से प्राप्त इस प्रकार ७५% जीवन साधन वायु और जल से प्राप्त हो जाते हैं। भोजन से कुल मिलाकर २५% आवश्यकताएँ पूरी होती है। इनका विवरण इस प्रकार है— (३) कार्बन १८%, (४) नाइट्रोजन ३%, (५) कैल्शियम २%, (६) फास्फोरस १%, (७) पोटेशियम ०.३५% (८) सल्फर .२५%, (६) सोडियम ०.१५%, (१०) क्लोरीन ०.०५%, (११) मैगनेशियम ०.०५%, (१२) लोहा ०.४%, (१३) आयोडीन, फ्लोरीन, सिलीकम तीनों मिलकर ०.४६ प्रतिशत कुल योग १००।

उपर्युक्त तत्त्वों और यौगिकों की आवश्यकता पूरी करने के लिए (१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेड-अम्ल, (३) फैट-चिकनाई, (४) विटामिन, (५) साल्ट-लवण, (६) मिनरल-खनिज, (७) जल की जरूरत पड़ती है। यह पदार्थ किसी को मिलते रहें, तो समझना चाहिए उसकी आवश्यकता पूर्ण हो गई। इससे आगे जीवन निर्वाह के लिए और कुछ करना नहीं है।

आर्थिक विश्लेषण के अनुसार मनुष्य का मूल्य और भी कम है। १० गैलन पानी, ७ साबुन की टिक्की बन सकें इतनी चर्बी, ६०० पेंसिलें बन सकने जितना कार्बन, १० डिब्बी माचिस बन सकने जितना फास्फोरस, १ छोटी-सी कील बन सकने जितना

लोहा, १ कुत्ते के जुएँ मार सकने जितना गंधक, १ मुर्गी का दरबा पोत सकने जितना चूना, २२ सेर बर्फ पिघला सकने जितनी गर्मी, ३ गुब्बारे उड़ाने के काम का हाइड्रोजन तथा ऐसी ही कुछ और स्वल्प मूल्य की वस्तुएँ इस शरीर में हैं, जिनकी बाजारू कीमत अधिक से अधिक पचीस रुपया हो सकती है। उसकी 'फेस वेल्यू' बाजारू कीमत नहीं के बराबर है। वस्तुतः कीमती तो उसका यथार्थ मूल्य इट्रिसिक वेल्यू ही है। यों नोट की फेस वेल्यू दस-बीस पैसे और उसकी इट्रिसिक वेल्यू छपे रुपए के बराबर होती है, पर मनुष्य के बारे में यह बात उलटी है, उसका दृश्य मूल्य कुछ नहीं वास्तविक, आंतरिक, चेतनात्मक मूल्य ही सब कुछ है।

जीवन क्या है ? इसकी व्याख्या करते हुए रसायनशास्त्र हमें क्रोमोसोम जीव, न्यूक्लियोटाइड, आक्सोराइवो न्यूक्लिक एसिड जैसे वृक्ष पादपों से घिरे सघन वन में ले जाकर खड़ा कर देता है, पर यह नहीं बताता कि वह मूल सत्ता क्या है ? जो विभिन्न स्तर का डी० एन० ए० बनाती है और उन्हें एक-दूसरे से नहीं बदलने देती।

जीवाणु विज्ञानी कहते हैं जिस प्रकार पदार्थ परमाणुओं का समुच्चय है, उसी प्रकार शरीर जीवाणुओं का साकार मंडल है। पर वे जीवाणु तो जादुई गति से जन्मते-बदलते और मरते हैं। इस परिवर्तन के प्रभाव जीव को रीति-नीति बदलने के रूप में क्यों दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका उत्तर जीव विज्ञानियों के पास भी नहीं है।

जीवशास्त्र के अनुसार प्रौढ़ावस्था के मनुष्य शरीर में प्रायः ६०० से ८०० खरब कोशिकाएँ होती हैं। इनमें से प्रति सेकंड लगभग ५ करोड़ मर जाती हैं और उतनी ही नई उत्पन्न होती हैं, जब तक उत्पन्न होने का क्रम बढ़ा-चढ़ा और मरने का क्रम हलका रहता है, तब तक शरीर विकसित होता है, जब दोनों क्रम समान रहते हैं तो स्थिरता रहती है और जब नष्ट होने की गति तीव्र तथा उत्पन्न होने की मंद हो तो फिर वृद्धता आ घेरती है और उसकी और अधिक बढ़ोत्तरी, अशक्तता, रुग्णता को बढ़ाते-बढ़ाते मृत्यु के दरवाजे पर पहुँचा देती है।

परमाणु विज्ञान के अनुसार जड़-परमाणु विशेष स्थिति में जीवन जैसा आचरण करता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी रीति-नीति अक्षुण्ण बनाए रहता है।

परमाणु की संघटना से जड़-चेतन पदार्थों की रचना मानी जाती है, परमाणुओं को पदार्थ की सबसे छोटी दृश्यमान इकाई माना जाता है, पर अब विकसित विज्ञान ने इससे आगे तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया है। वस्तुतः इस विश्व में शक्ति की सत्ता ही ओत-प्रोत हो रही है। उस शक्ति महासागर से हिलोरें उठती रहती हैं। उन्हें तरंगों का स्वरूप मिलता है। इन तरंगों की विभिन्न आवृतियाँ—फ्रीक्वेंसी होती हैं। तरंगों की हलचलें, प्रकाश एवं शब्द उत्पन्न करती हैं। वे दोनों परस्पर उलझते-सुलझते विविध-विधि अणु परमाणुओं के रूप में बादलों की बनती-बिखरती आकृतियों के रूप में सामने आते हैं। वस्तुतः परमाणुओं को 'कण' नाम दिया जाना गलत है, उन्हें शक्ति तरंग भर कहा जाना चाहिए। उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है किंतु भ्रम ऐसा ही होता है कि अणु स्वतंत्र सत्ताधारी है।

डॉ० एच० एस० वर ने अपने साथियों सहित प्राणियों की जिस जैविक विद्युत के शास्त्र की संरचना की है, उसमें प्राणिज विद्युत् का आधार एवं क्रिया-कलाप भौतिक बिजली से भिन्न है। वे प्राणिज विद्युत् में इच्छा और बुद्धि का सम्मिश्रण भी मानते हैं, भले ही वह कितना ही झीना क्यों न हो। इसी प्रवाह के कारण प्राणिज विद्युत् अपने-अपने क्षेत्र में विशेष परिस्थितियों एवं साधनों की संरचना करती हैं। प्राण चुंबकत्व पदार्थ में से अपने उपयोगी भाग को खींचता है, उसे अपने ढाँचें में ढालता है और इस योग्य बनाता है कि चेतना के स्वर में अपना ताल बजा सके। किस प्राणी के डिंब से किस आकृति-प्रकृति का जीव उत्पन्न हो, इसका निर्धारण-मात्र रासायनिक संरचना के आधार पर नहीं हो जाता वरन् यह निर्धारित रज और शुक्र कीटों के भीतर भरी हुई चेतना के द्वारा होता है। उसी चुंबकत्व से भ्रूण में विशिष्ट स्तर के प्राणियों की आकृति एवं प्रकृति ढलना शुरू हो जाती है। यदि ऐसा न होता,

तो संसार में पाए जाने वाले समस्त प्राणी प्रायः एक ही जैसी आकृति-प्रकृति के उत्पन्न होते, क्योंकि अणुओं का स्तर प्रायः एक ही प्रकार का है। उनमें जो रासायनिक अंतर है, उसके आधार पर कोटि-कोटि वर्ग के प्राणी उत्पन्न होने और उनकी वंश परंपरा चलते रहने की गुंजाइश नहीं है। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता था कुछ थोड़ी-सी, कुछ थोड़े-से अंतर की जीव-जातियाँ इस संसार में दिखाई पड़तीं। वंश परंपरा और जीव विज्ञान का जो स्वरूप सामने है, उनमें प्राणी चुंबकत्व की अपनी विशिष्ट भूमिका है।

अणु विज्ञान के आचार्य नोबुल पुरस्कार विजेता डॉ० हैरल्ड सी. उरे का कथन है कि अकार्बनिक पदार्थों के कार्बनिक पदार्थ में बदल जाने के कारण एमीनो एसिड है। इस रसायन के परमाणुओं का निर्माण कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के विशिष्ट संयोग से हुआ है। इस विचित्र संयोग के कारण बना यह रसायन जड़ को चेतन में बदलने की भूमिका प्रस्तुत करता है।

डॉ० हैरल्ड के अनुसार पृथ्वी का आदिम वायुमंडल अमोनिया मीथेन और हाइड्रोजन से भरा था, उसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम थी। जब स्थिति बदली और आक्सीजन की वृद्धि हुई, तो एमीनो एसिड उत्पन्न हुआ और जड़-पदार्थों ने चेतन बनने की हलचलें आरंभ कर दीं।

यह व्याख्याएँ नितांत अधूरी हैं। इनमें केवल जीव की प्राण प्रक्रिया का विद्युतीय हलचलों का विवरण मिलता है, पर मूल प्रश्न का उत्तर इनसे नहीं मिलता। पदार्थ की एक नियत निर्धारित गति होती है। मानवी चेतना में जो रुचि, इच्छा, आकांक्षा, भावना की भिन्नता पाई जाती है और पल-पल पर बदलती रहती है, भावुकता के उभार उसे चित्र-विचित्र अनुभूतियों का रसास्वादन करते हैं, यह सब क्या है ? इसका उत्तर परमाणुशास्त्र दे नहीं पा रहा है।

ऊर्जा विज्ञान जीवन को शक्ति समुच्चय बताता है। ध्वनि, प्रकाश, चुंबक की तरह ही, ताप भी एक प्रचंड शक्ति है। प्राण उस ताप का ही एक विशिष्ट परिपाक है। शरीर में जो गर्मी पाई जाती

है वही जीवन है। ठंडा होते ही प्राण मर जाता है। अस्तु, ताप की एक विचित्र प्रक्रिया को जीवन-धारा कहा जा सकता है। शरीर के विभिन्न क्रिया-कलापों के पीछे ऊर्जा विज्ञान नियत स्थानों पर, नियत धातुओं में नियत प्रकार की ऊर्जा को ही कारण मानते हैं।

उनके कथनानुसार स्वस्थ मनुष्य का सामान्य तापमान ३६.६ अंश सेंटीग्रेड होता है। रक्त में शर्करा ०.१ प्रतिशत रहती है और सामान्य रक्तचाप १०० से १४० मिलीमीटर तक मर्करी कॉल के मध्य होता है।

भीतरी तापमान ३६.६ अंश से० ग्रे० रहता है किंतु बाहरी त्वचा की गर्मी ३३ अंश से अधिक नहीं होती। यदि बाहरी तापमान ३३° से० ग्रे० से नीचे न गिरे और ४५ से० ग्रे० से अधिक न बढ़े तो भीतरी तापमान की स्वाभाविक स्थिति से शरीर का सामान्य क्रियाकलाप ठीक प्रकार चलता रहता है।

शरीर की मांसपेशियाँ आवश्यक ऊष्मा पैदा करती रहती हैं। शरीर में २४ घंटे में ६० से ८० लाख कैलोरी ऊष्मा बाहर फेंकता है। बिजली का सामान्य घरेलू हीटर भी प्रायः इतनी ही गर्मी पैदा करता है। रक्त की गर्मी शरीर की ऊष्मा का संतुलन बनाए रहती है। जब गर्मी की मात्रा बढ़ जाती है तो रक्त तेजी से शरीर में दौड़ने लगता है और आवश्यक गर्मी बाहर फेंक देता है। किंतु जब सर्दी होती है तो वह शरीर से ही ऊष्मा का संचय करने लगता है।

प्रातःकाल का तापमान प्रायः ३६° सें. ग्रे. पाया जाता है जबकि सायंकाल का ३७.५° सें. ग्रे. तक जा पहुँचता है। दिन की अपेक्षा रात को तापमान कुछ घटा हुआ रहता है।

रीढ़ की हड्डी के ऊपर मस्तिष्क के नीचे शरीर का ताप नियंत्रक केंद्र है। वहाँ से शरीर की आवश्यकतानुसार ताप को न्यूनाधिक किया जाता है। यदि इस केंद्र को कृत्रिम रूप से उलटा प्रभावित कर दिया जाए तो घोर गर्मी में भी सर्दी की कँपकँपी छूटेगी और घोर सर्दी में भी जेठ की दुपहरी जलती अनुभव होगी।

● जीवन का अस्तित्व ह्रास

कुछ समय पूर्व जब वैज्ञानिक यह मानते थे कि जीवन या चेतना शरीर बनाने वाले कोशों (सेल्स—शरीर का वह छोटे-से-छोटा टुकड़ा, जिसमें जीवन के सभी लक्षण मौजूद हों) की रासायनिक चेतना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, पर सजीव और निर्जीव कोशों (सेल्स) के विस्तृत अध्ययन के बाद वैज्ञानिकों की उक्त धारणा भी नष्ट हो चुकी है और अब जो सिद्धांत सामने आए हैं, वह इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य के शरीर में भरी हुई चेतनता को स्थिर रखने में कोशों की रासायनिक प्रक्रिया सहायक तो हो सकती है, पर वही आत्म चेतना हो, यह नितांत भ्रममूलक है।

जीवित कोश जिस रासायनिक पदार्थ से बने होते हैं, उसे 'प्रोटोप्लाज्मा' कहते हैं। पर कोश का संपूर्ण भाग प्रोटोप्लाज्मा ही नहीं होता। प्रोटोप्लाज्मा एक प्रकार का तरल द्रव्य होता है, वह एक स्थान पर कुछ गाढ़ा और कुछ कड़ा-सा होता है। इस स्थान से ही 'प्रोटोप्लाज्मा में रासायनिक हलचल के लिए स्पंदन निकलते रहते हैं। यह कहना चाहिए कि प्रोटोप्लाज्मा का जीवन इस केंद्रक पर आधारित है। इस केंद्रक (न्यूक्लियस) के बीच में एक ओर गोला होता है, उसे केंद्रिका (न्यूक्लियस) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कोश में आकर्षण मंडल, आकर्षण बिंदु, कोशिका आवरण और शून्य स्थान (वेक्यूम) भी होते हैं। पर मुख्य रूप से संपूर्ण कोश में यह केंद्रक ही चेतना का मूल बिंदु है। एक कोशीय जीव अमीबा के विस्तृत अध्ययन से पता चलता है कि १. गति (मूवमेंट), २. उत्तेजनशीलत्ता (इर्रिटेबिलिटी), ३. पोषण (न्यूट्रिशन) और स्वांगीकरण (एस्सिमिलेशन), ४. वृद्धि (ग्रोथ) ५. उत्सर्जन (एक्क्रेशन), तथा ६. जनन (रिप्रोडक्शन)। यह ६ क्रियाएँ केंद्रक की इच्छा और स्पंदन के ही परिणाम हैं। सामान्यतः इन छह क्रियाओं के आधार पर ही मनुष्य को भी जीवित माना जाता है। केंद्रीय रूप से शरीर की यह क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं तो मनुष्य की मृत्यु हो गई मान ली जाती है।

इन क्रियाओं को समझ लेना आवश्यक है। पहली गति अमीवा को देखने से पता चलता है (सूक्ष्मदर्शी से यह सब देख पाना संभव) कि अमीवा (जीव के रूप में एक जीवित और स्वतंत्र कोष) अपने प्रोटोप्लाज्म की थैली में से उंगली की तरह का कुछ हिस्सा बाहर निकालता रहता है और जिधर यह भाग निकल पड़ता है उधर ही अमीबा चल पड़ता है। मनुष्य शरीर रचना जिस पुरुष बीज कोष (स्पर्म) और नारी के रज (ओवम) से मिलकर होती है, वह कोष अपना विस्तार यद्यपि एक निश्चित सिद्धांत पर करता हुआ शरीर के निश्चित बनावट अंग-प्रत्यंग बनाता है, पर उनकी विकासगति भी ठीक इसी सिद्धांत पर काम करती है।

उत्तेजनशीलता का अर्थ है—अनुभूति या तन्मात्रा। मनुष्य शरीर में यह काम नाड़ियाँ (एफरेंट एंड इफरेंट नर्व्स) करती हैं। पर यह नाड़ी-मंडल शरीर के संपूर्ण कोषों में छाया हुआ है अर्थात् प्रत्येक कोष अमीबा के समान ही उत्तेजनशील होता है। अमीबा से शरीर के निकट गर्म आग, ठंडी बर्फ, विद्युत्, अम्ल, कोई वस्तु लाई जाए तो वह तुरंत पीछे भागता है। इसी गुण का नाम उत्तेजनशीलता है। शरीर में यह क्रिया झटके से उस संकट से हाथ हटाने जैसी होती है। हमारे शरीर के किसी अंग में काँटा चुभ जाए तो इसी गुण के आधार पर मस्तिष्क को सूचना पहुँचती है। देखने में यह दर्द उंगली या शरीर के किसी भी हिस्से में होगा, पर उसका अनुभव मस्तिष्क कर रहा होगा अर्थात् मस्तिष्क वाली चेतना सारे शरीर में प्रत्येक कोष के केंद्रक की तरह स्थित होकर काम करती है।

पोषण और स्वांगीकरण का अर्थ है, भोज्य पदार्थ को ग्रहण करना और उसे आत्मसात् करके शरीर को शक्ति देना। अमीबा प्रोटोप्लाज्म से दो चोंच-सी निकालकर करता है। शरीर में भी पाचन क्रिया यद्यपि पेट में होती-सी प्रतीत होती है, पर जिस तरह अमीबा ऑक्सीजन के सहयोग से भोजन किये हुए को प्रोटोप्लाज्म में बदलता है, उसी प्रकार पाचन-संस्थान की सहायता से वह अन्न ही क्रमशः रक्त, वीर्य, ओज में परिवर्तित होकर, सारे शरीर में आत्मसात् होता रहता है।

उत्सर्जन पाचन की तरह मल-विसर्जन की क्रिया का नाम है। यह अमीबा भी करता है और मल-मूत्र, थूक, पेशाब, पसीने के रूप में मनुष्य का शरीर भी।

वृद्धि का गुण भी शरीर के कोषों में ठीक अमीबा की तरह ही होता है। जिस प्रकार भोजन से अमीबा का प्रोटोप्लाज्म बढ़ता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी।

जनन की क्रिया भी एक अमीबा से केंद्रक (न्यूक्लियस) सहित प्रोटोप्लाज्म के दो हिस्सों में बँट जाने के रूप में १ से २, २ से ४, ४ से ८ इस क्रम में होती रहती है। मनुष्य शरीर में भी कोश (सेल्स) ऐसे ही बढ़ते हैं और निश्चित आकार-प्रकार वाले अंग बनाते हैं।

जब तक कोशों में यह क्रिया चलती रहती है, तब तक शरीर जीवित माना जाता है। किंतु मृत्यु घोषित हो जाने के बाद भी यह क्रियाएँ कुछ देर तक चलती रहती हैं। शरीर की सड़न, दुर्गंध, बालों का बढ़ना जैसे लक्षण इस बात के प्रमाण हैं कि शरीर की रासायनिक प्रक्रिया मृत्यु के बाद तब तक चलती रहती है, जब तक शरीर पूर्णतया सड़-गलकर नष्ट नहीं हो जाता। इसलिए चेतना को रासायनिक प्रक्रिया न मानकर, एक स्वतंत्र सत्ता ही माना जा सकता है।

इसका प्रमाण जीवित और निर्जीव कोशिका में स्पष्ट अंतर से व्यक्त होता है। जब तक मनुष्य जिंदा रहता है, तब तक प्रोटोप्लाज्म अत्यंत कोमल, लसदार और निरंतर अपना रूप बदलता रहता है—कभी फेन की तरह दिखाई देता है, कभी मरुस्थल की चमक के समान। किंतु मृत अवस्था में उसकी वह चमक समाप्त हो जाती है और वह उबले हुए अंडे की सफेदी के समान हो जाता है। इस अंतर के कारण ही वैज्ञानिक भी असमंजस में हैं और वह भी पूर्णतया मानने को तैयार नहीं होते कि शरीर की रासायनिक क्रिया ही जीवन है।

इसके विपरीत संत हरिदास जैसे योगियों ने समाधि लगाकर यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना एक स्वतंत्र अस्तित्व है और इसे ऐच्छिक ढंग से शरीर से निकाला और प्रविष्ट कराया जा सकता है। इसका एक और उदाहरण है—इंग्लैंड के कर्नल टाउनशेंड।

उन्होंने अपनी इच्छा-शक्ति पर इतना तीव्र नियंत्रण प्राप्त किया था कि वे जब भी चाहते थे, अपने प्राण शरीर से निकाल लेते थे और कुछ देर बाहर रहकर फिर उसमें प्रवेश कर जाते थे। इसी आधार पर उन्होंने जीवन को शरीर की रासायनिक प्रक्रिया से भिन्न अस्तित्व प्रतिपादित किया था।

एक बार ३ सरकारी डॉक्टरों के सन्मुख उन्होंने प्रयोग किया। अपने शरीर से उन्होंने सारी चेतना को समेट लिया। इसके बाद डॉक्टरों ने सारी परीक्षाएँ कर लीं और शरीर को पूर्ण मृत पाया। हृदय, नाड़ी, रक्त-संचालन की सारी क्रियाएँ बंद हो गईं। शरीर बिल्कुल ठंडा पड़ गया। थोड़ी देर बाद फिर अपने शरीर में आ गए और फिर शरीर अपनी सामान्य स्थिति में आ गया। यह डॉक्टरों के सामने एक चुनौती थी। उन्हें मानना ही पड़ा कि जीवात्मा सचमुच ही शरीर से पृथक् कोई अन्य तत्त्व है।

मनुष्य का शरीर जिन छोटे-छोटे कोशों (सेल्स अर्थात् मनुष्य शरीर जिस प्रोटोप्लाज्म नामक जीवित पदार्थ से बना है, उसका सबसे छोटा टुकड़ा) से बना है, उसकी लघुता की कल्पना नहीं की जा सकती। उसके भीतर उससे भी सूक्ष्म कण विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए परमाणु का व्यास .०००००१ मिमी. है तो उसके केंद्रक का व्यास .००००००००००१ मिमी. होगा। अब इस केंद्रक में भी एक विशेष प्रकार की रासायनिक बनावट होती हैं, जिसे क्रोमोसोम या गुण सूत्र कहते हैं। रासायनिक भाषा में इसे डी० एन० ए० कहते हैं। उसकी आकृति मरोड़ी हुई सीढ़ी के समान होती है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इस 'डी० एन० ए०' में सारे संसार भर का दृश्य-श्रव्य और ज्ञान भरा हुआ है। एक केंद्रक की डी० एन० ए० में जो भाषा अंकित होती है, उसमें १ खरब अक्षर होते हैं, जबकि संपूर्ण शरीर में ६०० से ८०० खरब कोशिकाएँ होती हैं। यदि ६०० खरब कोशों में अक्षर खोदे जाएँ तो अकेले मनुष्य शरीर में ही ६०० खरब × १ खरब अर्थात् ६०० खरब अक्षर आ जायेंगे। फ्लशिंग मेडो (न्यूयार्क का वह स्थान जहाँ

दोनों टाइम कैपसूल जमीन में गाड़े गये हैं) में गाड़ी गई इस पिटारी में जबकि कुल १ करोड़ अक्षर ही थे। तब यह मानना चाहिए कि मनुष्य शरीर में तो ऐसी ६०० खरब पिटारियों का ज्ञान भरा होना चाहिए।

कोश (सेल) जिस प्रकार ज्ञान, गुण और संस्कारों से मुक्त नहीं उसी प्रकार वह पदार्थ से रहित भी नहीं रह सकता, जबकि पदार्थ कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं, ब्रह्मांड का गुण मात्र है। इसलिए यह समझने में कोई दिक्कत नहीं कि शरीर रूपी पिटारी में ज्ञान-विज्ञान के अनादि स्रोत ही नहीं, पदार्थ की स्थूल संस्कृतियाँ भी निश्चित रूप से बंद हैं। जमीन में गाड़े गये टाइम कैपसूल तो कभी खराब भी हो सकते हैं, मनुष्य शरीर जैसा कैपसूल तो हर किसी के लिए हर समय उपलब्ध है। विज्ञान जहाँ आज ब्रह्मांड में पहुँच के अनेक रहस्य खोल रहा है, वहाँ उसकी उपलब्धियाँ और इस तरह के प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य पदार्थगत जगत् के विस्तार में जो कुछ पाना चाहता है, वह सब बीज में उसके भीतर ही बंद है, इसके लिए अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं।

यह सब एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में क्यों नहीं आता, विज्ञान अथवा योगियों की दृष्टि में ही यह सब क्यों है ? यह एक प्रश्न है, इसका उत्तर विज्ञान और योग दोनों का एक ही है। वह यह कि सूक्ष्मतर अवस्था में पहुँचने के लिए अपनी इंद्रियों को भी सूक्ष्म बनाना होगा। टाइम कैपसूल में वह सब यंत्र रखे गये हैं। जिनकी मदद से पिटारी में बंद सभी वस्तुओं को कभी भी खोलकर जानकारी प्राप्त की जा सकती है, उसी प्रकार चेतना को सूक्ष्मावस्था में प्रवेश कराकर हम भी समय, गति और ब्रह्मांड से परे उन सभी वस्तुओं को समझने, जानने और प्राप्त करने में समर्थ हैं—जो स्थूल दृष्टि से देखने में लाखों करोड़ों मील दूर, अब नहीं भविष्य में होने वाली हैं या पहले कभी हो चुकी हैं।

❐ ❐

विलक्षण मनुष्य और उनकी विलक्षणताएँ

आमतौर पर मनुष्य और विलक्षण उसे कहा जाता है, जो सामान्य औसत से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा हो। उदाहरण के लिए औसतन एक व्यक्ति पचास किलो तक वजन आसानी से उठा लेता है। कोई सौ किलो वजन भी उठा सकता है और किसी से पच्चीस किलो भी नहीं उठ पाता। सौ किलो वजन उठाने की सामर्थ्य रखने वाले व्यक्ति को बलिष्ठ कहा जायेगा, किंतु कोई व्यक्ति उससे भी पाँच- दस गुना अधिक उठाने की सामर्थ्य रखता हो, तो उसे अद्‌भुत और विलक्षण ही कहना पड़ेगा।

इस तरह की अद्‌भुतता, विलक्षणता, कहीं-कहीं और कभी-कभी देखने में आती है, जब व्यक्ति औरों की तुलना में बहुत ज्यादा, कई गुना अधिक कुछ भी कर-गुजरने में समर्थ होता है। यदा-कदा देखने पर भी अद्‌भुत और विलक्षण का अस्तित्व तो है ही। वह अस्तित्व ही इस बात का द्योतक है कि मनुष्य में अद्‌भुत विलक्षण संभावनाएँ विद्यमान हैं।

'साहिब अल्लाह शाह' नामक लाहौर का एक मुसलमान फकीर ६०० पौंड से भी अधिक वजन की मोटी लोहे की साँकलें पहने रहता था। वृद्ध हो जाने पर भी अपने अभ्यास के कारण इतना वजन भार नहीं रहा। पंजाब में वह 'साँकलवाला' और जिंगलिंग के नाम से आज भी याद किया जाता है। उसकी मृत्यु के बाद साँकलों की तौल की गई तो वह ६७० पौंड निकलीं।

यह तो भारतवर्ष के हठयोगियों की बातें हैं, अन्य देशों में भी अभ्यास द्वारा अर्जित ऐसी विचित्रताएँ देखने को मिल जाती हैं, जो इस बात की प्रतीक हैं कि मनुष्य कुछ विशेष परिस्थितियों में पैदा अवश्य किया गया है किंतु यदि वह चाहे तो अपने आपको बिलकुल बदल सकता है।

सिख सम्राट सरदार रणजीतसिंह के दरबार में प्रसिद्ध भारतीय योगी संत हरिदास ने जनरल वेंटूरा के सम्मुख अपनी जीभ को निकालकर माथे का वह हिस्सा जीभ से छूकर दिखा दिया जो दोनों भौंहों के बीच होता है। संत हरिदास बता रहे थे कि जीभ को मोड़कर गरदन के भीतर, जहाँ चिड़िया होती है—उस छेद को बंद कर लेने से योगी मस्तिष्क में अमृत का पान करता है। ऐसा योगी अपनी मृत्यु को जीत लेता है। अंगरेजों का कहना था कि जीभ द्वारा ऐसा हो ही नहीं सकता। इस पर संत हरिदास ने अपनी जीभ को आगे निकाल दिखा दिया। उन्होंने बताया कि कुछ औषधियों द्वारा जीभ को सूँतकर इस योग्य बनाया जाता है।

मनुष्य के अंदर इतना कुछ असाधारण छिपा-दबा पड़ा है कि उसे ढूँढ़ने-उभारने में संलग्न होने वाला ऐसी असाधारण विभूतियाँ करतलगत कर लेता है जैसी कि बाहरी उपार्जन से किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकतीं।

सिद्धियों की चर्चा जहाँ-तहाँ होती रहती है और ऐसे विवरण सामने आते रहते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि बाहरी दौड़-धूप तक सीमित रहने की अपेक्षा अधिक सुखी समुन्नत बनने के लिए अपने अंतरंग में छिपी हुई शक्तियों को ढूँढ़ना, जगाना कम लाभदायक नहीं है।

बुद्ध धर्म की योग-साधनाओं में एक जेन साधना थी, जिसके ध्वंसावशेष जापान आदि देशों में भी पिछले दिनों तक पाए जाते रहे हैं।

एक कोरियाई नाटा दुर्बल पहलवान अमेरिका गया और उसने वहाँ के नामी गिरामी पहलवानों को चुनौतियाँ देनी आरंभ कर दी। आखिरकार एक दंगल आयोजित किया गया, जिसमें अमेरिका के तत्कालीन चेंपियन पहलवान डिकारियल के साथ कुश्ती का जोड़ लिखाया गया। दोनों जब अखाड़े में उतरे तो जनता ठठाकर हँस पड़ी। कोरियाई पहलवान मात्र देखने में डिकारियल से दो फीट छोटा ही न था वरन् आकार में भी बच्चा जैसा लगता था।

कहाँ ६ फुट ७ इंच का डिकारियल और कहाँ चार फुट एक इंच का बौने लड़के जैसा दीखने वाला मास। दर्शकों का उत्साह ठंडा हो गया और वे इस बेजोड़ बेतुकी कुश्ती का सहज परिणाम समझकर समय से पहले ही उठकर जाने लगे। किंतु तब चमत्कार ही हो गया, जब कुछ ही दाँव-पेंचों के बाद मास ने डिकारियल को चित्त कर दिया और एक हजार डालर का इनाम जीत लिया।

अमेरिकी जनता इस पराजय को अपना राष्ट्रीय अपमान समझने लगी और मास पर धोखा-धड़ी की लड़ाई लड़ने का आरोप लगाया गया और अखबारों में इस संबंध में कटु आलोचनाएँ छपीं। खिन्न मास ने इन आरोपों का उत्तर एक नई चुनौती के रूप में दिया। उसने विज्ञापन छपाया कि कोई भी अमेरिकी यदि उसे हरा दे तो वह मिली हुई उपहार की रकम—एक हजार डालर—उसी को खुशी-खुशी वापस लौटा देगा। निदान दूसरे दंगल का आयोजन हुआ, इसमें एक पुलिस अफसर से कुश्ती लिखी गई। यह अफसर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का पहलवान था। वह बहुत ही आवेश में लड़ने आया था। किंतु इस बार भी अचरज कि मास ने उसे ऐसी पटक दी कि बेचारे की दो हड्डियाँ ही टूट गईं। इस पर अमेरिकी और भी खीझे और मारने पर उतारू हो गए। किसी प्रकार भागकर वह अपने होटल पहुँचा और जान बचाई।

यह तो अमेरिका की बात हुई। इससे पहले मास ने जापान में भी अपने पराक्रम की धूम मचा दी थी। यों वह जन्म से कोरियाई था, पर वहाँ से वह बचपन में ही अपने बाप के साथ जापान आ गया था और वहाँ के नागरिक बन गया था। उसने एक विशेष प्रकार की व्यायाम कला—जेन साधना सीखी और उसी के बल पर वह चमत्कारी योद्धा बन गया।

अक्सर चुनौती प्रदर्शन में उसके सामने अत्यंत मजबूत पत्थर जैसी कठोर पकी हुई दो ईंटें दी जाती। ईंटों की मजबूती को विशेषज्ञ परखते। इसके बाद दोनों हथेलियों के बीच वह इन ईंटों

को रखता और उँगलियों के खाँचें भिड़ाकर, इस तरह दबाता कि ईंटों को चूरा हो जाता। दर्शक अवाक् रह जाते।

एक बार जापान में उसे विचित्र प्रकार की कुश्ती का सामना करना पड़ा। हारे हुए पहलवानों ने मिल-जुलकर उसे चुनौती दी कि वह साँड़ से कुश्ती लड़ने को तैयार हो। पहले तो वह आनाकानी करता रहा, पर पीछे जब चिढ़ाया जाने लगा तो वह तैयार हो गया। इसके लिए एक अत्यंत क्रोधी और तेरह मन भारी साँड़ विशेष रूप से तैयार किया गया और नशा पिलाकर, प्राणघातक आक्रमण करने में प्रवीण बनाया गया। इस दंगल को देखने के लिए जापान के कोने-कोने से लोग आए। डाक्टरों और पुलिस वालों का एक विशेष कैंप लगाया गया कि यदि मास साँड़ की चपेट में आ जाये तो कम से कम उसकी मरणासन्न स्थिति में कुछ तो उपचार किया जा सके। तब क्रुद्ध सांड़ को काबू करने का भी सवाल था। यह काम पुलिस ही सँभाल सकती थी। सो भी सभी आवश्यक प्रबंध पहले से ही नियोजित कर लिए गए।

मास पूरी तरह निहत्था था। मुट्ठियाँ ही एक मात्र उसकी ढाल-तलवार थीं। लड़ाई आरंभ हुई। आक्रमण को पहले करने का अवसर प्रशिक्षित साँड़ को दिया गया। मास अपनी जगह चट्टान की तरह खड़ा रहा। टक्कर खाकर वह उखड़ा नहीं वरन् घूँसे से प्रत्याक्रमण किया। घूँसा ऐसा करारा बैठा कि वह एक में ही चक्कर खाकर गिर पड़ा और वहीं ढेर हो गया। १३ मन भारी उस महादैत्य साँड़ को एक ठिगना-सा दो मन से भी कम वजन का मनुष्य इस तरह गिरा सकता है। यह दृश्य लोगों के लिए आश्चर्यचकित करने वाला था। कई तो एसे भूत-प्रेत की सिद्धि या जादू-मंत्र का चमत्कार तक कहने लगे।

अपनी शक्ति का रहस्य बताते हुए मास अपनी योग-साधना का वर्णन विस्तारपूर्वक किया करता था और उस प्रक्रिया का इतिहास बताया करता था।

जापान में 'जेन साधना' भूतकाल में भी बहुत प्रख्यात और सम्मानित रही है। बौद्ध धर्मानुयायी संत इसे अपने शिष्यों को बताते और सिखाते रहते थे। इस आधार पर मनुष्य न केवल आध्यात्मिक वरन् भौतिक शक्तियाँ भी प्राप्त कर सकता है। जेन साधना को नट विद्या नहीं वरन् विशुद्ध योगाभ्यास ही समझा जाना चाहिए। जापान की 'जुजुत्सु' विद्या संसार भर में प्रसिद्ध थी। इसके आधार पर मनुष्य अपने से कहीं अधिक बलवान प्रतिद्वंद्वी को बात की बात में धराशायी कर सकता था। इसकी पुष्टि करने वाली न केवल दंत कथाएँ ही वहाँ प्रसिद्ध थीं वरन् जापानी उसमें निष्ठा भी रखते थे।

मास को बचपन से ही योग-विद्या का शौक था। उसने जेन साधना में निष्णात महाभिक्षु फुना कोशी से दीक्षा ली और उन्हीं के पास रहकर, यह विद्या सीखने गया। उस प्रयोजन के लिए उसने पर्वतों की निर्जन गुफाओं में डेरा डाला और बर्फ से ढकी कंदराओं में वनस्पतियाँ खाकर, साधना जारी रखी। कई वर्ष बाद वापस लौटा तो उसकी जटाएँ और दाढ़ी बढ़ी हुई थी। लोगों ने उसे पागल समझा, पर इससे क्या ? वह धुन का धनी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही रहा और आखिर उसने अपने को जेन साधना का सिद्ध पुरुष ही बना लिया।

योग-साधनाओं का उद्देश्य मनुष्य की अंतश्चेतना की विलक्षण क्षमताओं, शक्तियों और संभावनाओं के स्रोत ईश्वरीय सत्ता के साथ जोड़ना ही होता है। धर्मदर्शन के आस्तिकवाद के सिद्धांतों के अनुसार परमात्मा असामान्य विलक्षणताओं और सभी संभावनाओं का केंद्र है। उससे संबंध स्थापित कर लेने पर मनुष्य इच्छित दिशा में विकास कर सकता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर प्रसन्न होकर कोई इस तरह के वरदान-अनुदान देता है कि बल्कि ये शक्तियाँ तो प्रत्येक मनुष्य में बीज रूप से विद्यमान रहती हैं। साधनाओं द्वारा उन संभावनाओं शक्तियों का विकास भर किया जाता है। इन सिद्धियों के अलावा भी

कई बार ऐसी विलक्षण घटनाएँ देखने में आती हैं, जिनसे किसी मानवेतर सत्ता की उपस्थिति विद्यमानता के संकेत मिलते हैं।

दि मार्डन रिव्यू कलकत्ता के जुलाई १९३६ अंक में सर ए० एस० एडिंग्टन ने लिखा है—'हम नहीं जानते वह क्या है ? पर कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है। मैं चेतना को मुख्य मानता हूँ, भौतिक पदार्थ को गौण। नास्तिकवाद चला गया। धर्म, आत्मा और मन का विषय है, वह किसी प्रकार हिलाया नहीं जा सकता।

इन सब उक्तियों के बाद भी आज का पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित समाज चेतना को मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि वह वस्तुस्थिति से अपरचित है। आइन्स्टाइन जो विज्ञान का पारंगत पंडित था, उनका कथन है कि सृष्टि में कोई चेतना काम कर रही है, पर तो भी विज्ञानवादी उसे मानने के लिए तैयार नहीं होते, तब यह कहना पड़ता है कि क्या यह घटनाएँ भी आत्मा की उन मान्यताओं को पुष्ट नहीं करती, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है।

लंदन के एक निवासी के संबंध में कुछ वर्ष पूर्व समाचार आया था कि ७६ वर्षीय एक व्यक्ति की निद्रा १८ वर्ष की आयु में किसी रोग के कारण भंग हो गई थी और उसके बाद सारे जीवन अर्थात अगले ५८ वर्षों तक उसे निद्रा नहीं आई। उस व्यक्ति के शरीर या मस्तिष्क में कोई रोग या असाधारण जैसा कोई चिह्न भी परिलक्षित नहीं हुआ अर्थात् वह इतने वर्ष लगातार न सोने पर भी पूर्ण स्वस्थ था।

स्पेन के बैलेंटिन मेडिना नामक और एक और सज्जन हैं, जिन्होंने पिछले ६२ वर्षों से सोना तो क्या झपकी भी नहीं ली। उन्हें यह भी याद नहीं कि उन्होंने कभी जम्हाई ली भी थी या नहीं। वे चौबीसों घंटे काम करते हैं। अर्नेस्टो मेडार्ज के कृषि फार्म में वे पहले १६ घंटे हल चलाते, निकाई करते हैं। शेष ८ घंटे चौकीदारी करते हैं। जहाँ एक मजदूर कुल आठ घंटे की मजदूरी कमाता है, वहाँ श्री वैलेंटिन तीन पाली काम की मजदूरी प्राप्त करते हैं। वे

प्रतिदिन दो बार नाश्ता और चार बार भोजन करते हैं। थक जाते हैं तो उनके लिये बैठकर थोड़ा आराम करना काफी है, सोते तो वे हैं ही नहीं, उनके पास आज तक सोने का कोई बिस्तर भी नहीं है।

इस असाधारण स्थिति की जाँच दुनिया भर के डॉक्टर कर चुके हैं। गोलियाँ, इंजेक्शन और औषधियाँ भी दी गईं। पर कोई अंतर न पड़ा। डॉक्टरों ने उनकी मृत्यु के बाद की परीक्षा के लिए अनुमति भी माँगी है और स्पेन के मेडिकल स्कूल को यह अधिकार दे भी दिया गया है। किंतु मस्तिष्क की अहर्निश इस जाग्रत् अवस्था का कोई निश्चित निष्कर्ष वैज्ञानिक और डॉक्टर न निकाल पाये।

स्टाक होम (स्वीडन) के पास मोस्टेरीज नाम एक शहर है। घनी बस्ती के बीच में एक कन्या पाठशाला। नगर के एक संभ्रांत व्यक्ति की १३ वर्षीय कन्या कारोफ्लाइन कार्ल्स वाटर इस स्कूल में पढ़ने जाया करती थी। एक दिन की बात है कि रात्रि में पूर्ण नींद लेने के बाद भी उसे निद्रा का आवेश-सा आता रहा। अपने आपको जाग्रत् रखने का बहुतेरा प्रयत्न करने पर भी बेचारी रोक न सकी अकस्मात् पढ़ते-पढ़ते डेस्क पर रखी अपनी पुस्तकों में सिर रखकर सो गई। कारोफ्लाइन जब सो गई तो उसके अध्यापकों ने उसे जगाने का बहुतेरा प्रयत्न किया, पर वह प्रगाढ़ निद्रा में जा चुकी थी; जगना असंभव है, यह जानकर उसे घर भेज दिया गया। एक दिन, दो दिन, तीन सप्ताह, माह, वर्ष बीत गया पर लड़की की नींद न टूटी। उसे दूध, फलों का रस और इंजेक्शन दिए जाते रहे, जिससे शरीर की गतिविधियाँ सामान्य ढंग से चलती रहीं, पर कारोफ्लाइन की एक बार लगी नींद फिर टूटी ही नहीं।

निरंतर सुरक्षा और प्रतीक्षा के २३ वर्ष बाद जब नींद टूटी, तब वह ३६ वर्ष की अधेड़ हो गई थी। युवावस्था नींद में चली गई, का वह प्रत्यक्ष उदाहरण थी। जागते ही उसने पुस्तकें माँगी, जहाँ से पढ़ाई का काम छोड़ा था, वहीं से फिर प्रारंभ कर दिया।

यह घटनाएँ आत्मा के चिर जाग्रत् तत्त्व होने का प्रमाण हैं, जिसका न कोई डॉक्टर खंडन कर सका है और न ही वैज्ञानिक। न उनके पास इसका कोई निश्चित उत्तर ही है ?

अभी कुछ समय पूर्व ग्रीक में एक व्यक्ति ऐसा हुआ है, जो प्रतिदिन १०० पौंड से भी अधिक भोजन ग्रहण कर जाता। पेय और नाश्ता उससे अतिरिक्त। ग्रीक निवासियों ने 'मिलो आफ क्रोटोना' नामक इस व्यक्ति की स्मृति में एक यादगार खड़ी की है जैसा कि मुमताज महल की स्मृति में ताजमहल।

वास्तव में यह यादगार (मानू मैंट) मिलो क्रोटोना की नहीं, उसके विशाल शक्ति वाले पाचन-संस्थान की यादगार है, जो बताती है कि प्रकृति के दिए हुए साधन इतने सक्षम और समर्थ हैं कि यदि मनुष्य उनका दुरुपयोग न करे तो दुनिया की मशीनें मनुष्य शरीर का क्या मुकाबला कर सकती है ?

क्रोटोना तो वास्तव में अपनी इस यादगार के कारण मशहूर हो गया वरन् उससे भी अधिक सक्षम पाचन शक्ति वाले लोग हुए हैं। भारतवर्ष में बुजुर्गों के बारे में ऐसी सच्ची कहानियाँ गाँव-गाँव सुनने को मिल जाती हैं और उनके साथ यह उपदेश भी कि यदि मनुष्य गलत आहार-बिहार के कारण शरीर की अग्नि को नष्ट न करे तो पेट खराब होने का कोई कारण नहीं। प्रो० पी० जी० ग्रे के अनुसार जब मिट्टी के २०० से अधिक कीटाणु कार्बोलिक एसिड जैसा जहरीला रसायन पीकर पचा जाते हैं, पचा ही नहीं जाते वरन् उसी से अपना शारीरिक विकास भी करते हैं, तब यदि मनुष्य पेट की गड़बड़ी और मंदाग्नि का रोना रोए तो यही कहना पड़ेगा कि उन्होंने शरीर को परमात्मा की देन जैसा मानकर, उसे पवित्र और सुरक्षित रहीं रखा वरन् उसे चमड़े की मशीन मानकर, उसकी शक्ति निचोड़ने भर में आनंद अनुभव किया।

शरीर की गर्मी नष्ट न की जाये तो मनुष्य कितना खा सकता है, उसकी एक दूसरी घटना है डेट्रायट—मिशिगन (अमेरिका) की जिसके आगे मिलो क्रोटोना का भोजन तो बच्चे की

खुराक कही जानी चाहिए। रेलवे विभाग में काम करने वाला—एडिको साढ़े ६ फुट लंबा और २१० पौंड वजन का था और एक दिन में १५० पौंड अर्थात्—डेढ़ मन से भी ज्यादा खाना खा जाता। ५ व्यक्तियों के सामान्य परिवार के लिए जो भोजन एक सप्ताह के लिए पर्याप्त होता, एडिको का उससे मुश्किल से ही एकबार पेट भरता।

यदि वह किसी होटल में खाने के लिए बैठ जाता तो फिर कुछ देर के लिए दूसरे सभी लोगों का खाना बंद हो जाता, फिर उन्हें खाने की आवश्यकता भी नहीं होती थीं, एडिको का चारा देखकर ही उनकी भूख मर जाती थी। बड़े सुअर के मांस से बनी ६० टिकियाँ और आड़ू तथा जामुन से बनी २५ कचौड़ियाँ, वह एक ही बैठक में साफ कर जाता था। फिर इस पेट में पहुँचे कोयले को जलाने के लिए जल की आवश्यकता होती थी। उसके लिए बोतलें रखी जातीं और तब एक बार में गिनकर पूरी पचास बोतलें पानी भी पी जाता था।

रविवार के दिन वह विशेष खाना खाता था। उस दिन वह सुअर का मांस न लेकर ५ मुर्गे खाता था। एक बार उसने पेटभर भोजन करने के बाद लोगों की जिद रखने के लिए ३ पेरू पक्षी भी उदरस्थ कर लिए, जिनका वजन ६० पौंड था। २४ पौंड पनीर और ३०० अंडे उसका हल्का-फुलका नाश्ता था। वैसे वह दिन भर में दो-तीन बार खाता था और प्रतिदिन बड़े सुअर की भुनी हुई ४५ बोटियाँ ६० टिकियाँ, भुना हुआ आलू दो गैलन, १० कप काफी, ५० बोतल बियर तथा शराब, ५० बोतल अन्य जल का कोकाकोला जैसा पेय और ५० कचौड़ियाँ उसके भोजन होते थे। उसके सामने विवाह का प्रस्ताव आया तो उसने कहा—मुझे पूरा भोजन मिलता रहे इसी में आनंद है। उसने विवाह किया ही नहीं।

यह घटना बताती है कि यदि नष्ट न करें तो पेट में पूरे एक मालगाड़ी को खींचने में इंजिन को जितनी गर्मी और आग चाहिए,

वह कुदरत ने आदमी के पेट में भरी है, भले ही लोग उसे पहचान व समझ न पाएँ।

सन् १९६८ में फ्यूजी टेलिविजन कंपनी जापान के डाइरेक्टर्स भारत आए दिल्ली में उन्हें पता चला कि भारत में एक ऐसा व्यक्ति है जो काँच, लोहा, ताँबा, पिन, कंकड़, पत्थर चाहे जो कुछ खा सकता है तो भी उसकी शारीरिक क्रियाओं में रत्ती भर भी फर्क नहीं पड़ता। उन्होंने उस व्यक्ति को दिल्ली बुलवाया स्वागत में जहाँ अन्य अतिथि स्वादयुक्त भोजन पाते हैं, चाय नाश्ता करते हैं, वहाँ इन बेचारों को कीलें, पिनें, टूटे फ्लास्क और काँच के गिलास खाने को दिए गए। उन्होंने वही बड़े प्रेम से खाए और जापानियों को दंग करके रख दिया। जापानी उन्हें साढ़े तीन माह के लिए जापान ले गए उन पर तरह-तरह के प्रयोग किए, पर कोई रहस्य न जान सके कि आखिर इस मनुष्य दैत्य के पेट में क्या है ? जो मोटर, ठेले खा जाने तक की क्षमता रखता है।

साधारणतौर पर मनुष्य का पेट फल-फूल, अन्न और रस पचाने की जितनी अग्नि वाला माना जाता है। यदि लोहा, शीशा पचाने की बात आए तो भारी शक्ति वाली अणु भट्टी की आवश्यकता होगी। कोई व्यक्ति बिना किसी बाह्य रसायन अथवा यंत्र की मदद से यदि इस्पात और पत्थर जैसी कठोर तथा साइनाइड जैसे मारक विष खाकर पचा जाए तो प्रमाणित होगा कि उसके पेट, उसकी नाभि में वस्तुतः कोई अग्निकुंड होगा, यह विश्वास दिलाना इसलिए आवश्यक है ताकि लोग जठराग्नि प्रदीप्त करने वाले प्राणायाम, योगासनों की महत्ता समझें, ताकि लोग शरीर और शरीर के लक्ष्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें और मनुष्य जीवन में आने का उद्देश्य भी सार्थक कर सकें।

डॉ० अलखमोहन माथुर नामक इस भारतीय आश्चर्य का जन्म अलीगढ़ में हुआ। वे जन्मे भी समय से पहले और उल्टा तथा जुड़वाँ। जन्मजात आश्चर्य श्री माथुर मानव आश्चर्यों के प्रतीक हैं। एक दिन, जबकि वे चंडीगढ़ में डॉक्टरी करते थे,

उन्होंने सुना कि एक बालिका धोखे से सुई खा गई। सुई खाते ही लड़की की स्थिति मरणासन्न हो गई। डाक्टरों ने किसी तरह आपरेशन करके बालिका के प्राण बचाये। इस घटना ने श्री माथुर को बहुत विचलित कर दिया। वे सोचने लगे क्या सचमुच मनुष्य इतना गया-बीता निर्माण है कि एक नन्हीं-सी सुई उसकी जान ले ले। कौतूहलवश उन्होंने उसी शाम ब्लेड का एक छोटा-सा टुकड़ा खाकर देखा। प्रातःकाल पाखाने के साथ वह टुकड़ा निकल गया पर साथ में रक्त भी गया, जिससे पता लगता था कि ब्लेड की खरोंच लगी हैं। दूसरे दिन उन्होंने फिर ब्लेड खाया और कई दिन तक उसके निकलने की प्रतीक्षा करते रहे पर न ब्लेड के टुकड़े निकले और न ही रक्त। हैरानी बढ़ने पर उन्होंने एक्स-रे कराया तो उन टुकड़ों का कहीं पता ही नहीं चला।

फिर एक-एक करके वे धीरे-धीरे आलपिनें, लोहे के टुकड़े, शीशा, पारा, प्लास्टिक, ताँबा चाहे कोई भी धातु चबाने और पचाने लग गये। यह कोई चमत्कार नहीं था। एक तथ्य था, जो इस शरीर रूपी अद्‌भुत मशीन से संबंध रखता, इसलिए उसकी छान-बीन प्रारंभ हुई। दिल्ली के गोविंद वल्लभ पंत हास्पिटल में बंबई, कलकत्ता, लखनऊ, चंडीगढ़, अलीगढ़, गाजियाबाद में परीक्षण हुए डाक्टरी जाँच की गई पर कोई नहीं बता सका कि कौन-सा तत्त्व है, जो इन अभक्ष-भक्ष्यों को भी पचा सकता है।

जापानी डॉक्टरों ने तो उन्हें कई-कई दिन तक एकांत में रखा। खाने के तुरंत बाद से लेकर दिन में वैसे कई-कई बार तक एक्स-रे और अन्य प्रयोग किए पर कुछ भी जान न पाए, आखिर यह कौन-सा बला विज्ञान है। उन्होंने श्री माथुर को एक सर्टिफिकेट दिया—'विश्व भर में अद्‌भुत 'भारतीय' (वर्ल्ड सरप्राइज मैन आफ इंडिया)।

● 'निराहार भी रहा जा सकता है'

जापान के मूर्धन्य दैनिक पत्र 'जापान टाइम्स' में एक समाचार प्रकाशित हुआ कि भारतवर्ष में पटना शहर के समीप एक ऐसे सज्जन निवास करते हैं, जो कि पिछले दो वर्ष से सर्वथा निराहार रहते हैं। उनका जीवन-निर्वाह जल और वायु पर ही हो जाता है।

समाचार अद्‌भुत और आश्चर्यजनक ही नहीं अविश्वसनीय भी था, क्योंकि इन दिनों जबकि आहार को ही जीवन का आधार माना जा रहा है और स्वास्थ्य के लिए विभिन्न प्रकार के खनिज लवण, प्रोटीन, चिकनाई, कार्बन आदि की तालिकाएँ प्रकाशित करके, आहार को ही सब कुछ बताया जा रहा है, तब यह कैसे संभव है कि कोई व्यक्ति बिना आहार के जीवित रह सके और दो वर्ष जैसी लंबी अवधि तक जीवित भी रहे और स्वस्थ भी बना रहे ? आहार के बिना अनशन करने वाले कई व्यक्ति मृत्यु के मुख में जा चुके हैं, फिर बिना भोजन किए कोई व्यक्ति इतने समय तक जी ले। जीवित नहीं, स्वस्थ भी बना रहे और स्वस्थ ही नहीं, इसी बिना आहार वाली पद्धति को अपनाकर, भविष्य में लंबा जीवन जी सकने की घोषणा करे तो यह बात साधारणतया न तो समझ में आती है और न उस पर भरोसा करने को जी करता है।

इस समाचार ने अनेकों को आश्चर्यान्वित किया। इन्हीं दिनों कनाडा के एक पाल स्टेटवैक नामक सज्जन विश्व भ्रमण के लिए निकले हुए थे। वे जिन दिनों यह समाचार छपा, तब तक अमेरिका, मेक्सिको, हनोई, जापान, कोरिया, ताइवान, बैंकाक आदि की यात्रा कर चुके थे। उन्होंने अपना कार्यक्रम रद्‌द करके, इन निराहार जीवनयापन करने वाले सज्जन से भेंट करने और तथ्यों का पता लगाने का निश्चय किया और वे भारतवर्ष आकर सीधे पटना जा पहुँचे, स्थान का पता लगा और उन सज्जन के समीप जा पहुँचे, जिनके बारे में समाचार छपा था।

पाया गया कि पटना जंकशन से कुछ आगे चिड़िया रोड पर ओवर ब्रिज के दक्षिण में कंकड़ बाग की तरफ जाने वाले रास्ते पर एक प्राकृतिक चिकित्सालय बना हुआ है, वहाँ श्री भगवान आर्य नामक एक सज्जन निवास करते हैं, वे प्राकृतिक चिकित्सा प्रेमी हैं। केवल वे स्वयं ही प्राकृतिक जीवन पर विश्वास नहीं करते वरन् अपने परिवार को भी वैसी ही जीवन पद्धति अपनाने पर सहमत किये हुए हैं। वे रोगियों की प्राकृतिक विधि से चिकित्सा भी करते हैं और स्वस्थ रहने के लिए किस प्रकार का जीवनयापन करना चाहिए यह भी समझाते हैं ?

कनाडा के विश्व यात्री श्री स्टेटवैक को तब और भी आश्चर्य हुआ, जब उन्हें पता लगा कि न केवल उपरोक्त सज्जन २ वर्ष से स्वयं ही निराहार रहते हैं वरन् उनके परिवार के सभी लोग, जिसमें उनकी पत्नी, दो लड़कियाँ और एक लड़का है। यह सब भी करीब एक वर्ष से इसी प्रकार बिना आहार का जीवनयापन कर रहे हैं और सभी सकुशल हैं।

इस संदर्भ में दिल्ली के साप्ताहिक हिंदुस्तान के २५ जुलाई १९७१ के अंक में श्री कृष्णनंदन ठाकुर की उपरोक्त सज्जन से एक भेंट वार्ता छपी थी, जिसमें प्रश्नों के उत्तर देते हुए डॉ० भगवान आर्य ने बताया कि—

'हर मनुष्य चाहे वह कुर्सी पर बैठकर काम करने वाला हो, चाहे कृषक हो, चाहे पहलवान हो, सभी को हवा और पानी से पूरा-पूरा पोषण मिलता है।

'निराहार भी जीवन पर्यंत रहा जा सकता है। इससे मनुष्य कभी बुढ़ापा महसूस भी नहीं करेगा। जितनी लंबी अवधि तक मनुष्य हवा, पानी पर रहकर सामर्थ्य जुटा सकेगा, उसके शरीर में सभी तरह की ताकत और अच्छाइयाँ आने लगेंगी। बुढ़ापा ऐसे व्यक्ति के दरवाजे पर आवेगा ही नहीं। मानव प्राणी को प्रथम श्रेणी का इंजन मिला है, जिसमें खाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

पशु-पक्षियों को द्वितीय श्रेणी की मशीन मिली है, इसलिए उन्हें खाने की आवश्यकता पड़ती है।'

श्री भगवानजी का प्रयोग अधिक गहराई तक समझा जाने योग्य है। इस संदर्भ में अधिक खोज होनी चाहिए। यह कोई सिद्धि चमत्कार जैसी बात नहीं वरन् मनुष्य शरीर का निर्वाह किन मूलभूत आधारों पर अवलंबित है, उसकी जड़ तक पहुँचने के लिए एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने वाली बात है। यदि आहार को गौण और जलवायु को जीवन निर्वाह का प्रधान आधार सिद्ध कर सकें तो इस प्रतिपादन के दूरगामी परिणाम होंगे। फिर आहार से स्वास्थ्य-संरक्षण के नाम पर इन दिनों जो भक्ष्य-अभक्ष्य, ईंट-पत्थर, आग-अँगार सब कुछ खाया जा रहा है और खाद्य उत्पादन के लिए इतना कुहराम मच रहा है, उस संदर्भ में नई दिशा मिलती है। यह पूर्ण निराहार सर्वसाधारण के लिए संभव न हो तो भी यदि स्वल्पाहार से काम चल सकता हो और उसके लिए शाकाहार जैसी सरल सात्विक वस्तुओं को पर्याप्त माना जा सकता हो तो उस प्रतिपादन का मानव जीवन की एक मुख्य समस्या 'आहार' का आशाजनक समाधान निकल सकता है। विशेषतया प्रोटीन के नाम पर जिन करोड़ों निरीह पशु-पक्षियों के मांस के नाम पर वध किया जाता है, उनकी निरर्थकता समझने में सुविधा मिल सकती है।

स्वामी विवेकानंद ने पवहारी बाबा' नामक एक योगी का ऐसा ही वर्णन किया था कि वे बिना आहार के रहते थे। वह विवरण उनकी एक 'पवहारी बाबा' नामक पुस्तक में भी है, पर तब उसका कारण योगाभ्यास बताया गया था। तब लोगों को उस कठिन कार्य का अनुकरण करने का साहस नहीं हुआ। पर श्री भगवान जी का प्रयोग तो प्राकृतिक विज्ञान के अनुरूप होने से सभी के लिए सरल एवं उपयोगी हो सकता है। आवश्यकता इस संदर्भ में अधिक गहरे अन्वेषण और विस्तृत प्रयोग किये जाने की है, ताकि सर्वसाधारण के लिए किन्हीं सर्वमान्य निष्कर्षों पर पहुँचा जा सके।

योगविद्या के अंतर्गत ऐसे विधान हैं, जिनमें अन्न की आवश्यकता प्राण वायु से पूरी हो सकती है। जल पर भी निर्वाह हो सकता है। तपस्वियों की कितनी ही तपश्चर्या इस आधार पर संपन्न हुई है। पार्वतीजी की शिव विवाह के लिए की गई तपश्चर्या की बात तो देवताओं के वर्ग में चली जाती है। ऋषियों की बातें भी पुरानी हो गईं, पर अभी भी ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जो प्राणतत्त्व के माध्यम से इस निखिल जगत् में संव्याप्त शक्ति को खींचने और उससे शारीरिक-मानसिक स्तर की व्यक्तिगत सशक्तता उत्पन्न करने से लेकर—दूसरों की सहायताएँ करने तथा लोकमंगल के अगणित प्रयोजन पूरे करने की व्यवस्था है। वह मार्ग कठिन है और सबके लिए संभव नहीं। पर उपरोक्त प्रयोग तो सर्वसाधारण के लिए एक नई दिशा प्रस्तुत करता है, इसलिए इसका महत्त्व विशेष है।

● अनंत संभावनाओं से युक्त ईश्वर पुत्र

तत्कालीन प्रधान जज सर जान बुडरफ ने अपने एक संस्मरण में लिखा है—वे ताजमहल होटल के लाउंज पर बैठे थे, उनके साथ एक भारतीय मित्र थे। संकल्प शक्ति की चर्चा चल रही थी। उन मित्र ने इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कहा, 'इतना तो मैं भी कर सकता हूँ कि सामने जो बीस के लगभग मनुष्यों का झुंड बैठा है, उसमें से आप जिसे कहें उठा देने और बिठा सकने का जादू दिखा सकूँ। बुडरफ ने उनमें से एक व्यक्ति को चुन दिया। मित्र ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया। फलतः ठीक वही व्यक्ति अकारण उठ खड़ा हुआ; चला फिर अपने स्थान पर वापस बैठ गया।

फ्रांस की एक लड़की एनेटफ्रेलन की विचित्रता भी अपने समय में बहुत प्रख्यात रही। जब वह बारह वर्ष की थी, तभी वह अविज्ञात प्रश्नों के उत्तर देती थी। यह उत्तर उसकी चमड़ी पर इस तरह उभरते थे, मानो किसी ने कागज पर स्याही से लिखे जाने

की तरह उन्हें लिख दिया हो। यह अक्षर अपने आप ही उभरते थे और कुछ ही मिनट में गायब हो जाते थे।

२८ जुलाई, ९६६ को दक्षिण अफ्रीका के न्यूकेसिल नगर में असंख्य जन-समूह के सम्मुख योगविद्या का चमत्कार प्रदर्शन अंतर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय बना रहा।

बात यह थी कि एक चाय का होटल चलाने वाला साधारण-सा युवक पीटरयान डेनवर्ग योगविद्या के चमत्कारों के बारे में बहुत कुछ सुनता, पढ़ता रहा था। उसने भारतीयों को योगियों के नाम से जाना था। अस्तु अपनी सारी जमा पूँजी समेटकर भारत चल पड़ा और तिब्बत के हिमालय क्षेत्र में भ्रमण करके, चमत्कारी विद्याएँ बहुत समय तक सीखता रहा।

जब वह अपने देश वापस लौटा तो लोगों ने उसे चमत्कार दिखाने के लिए विवश कर दिया। अंततः वैसे प्रदर्शन की व्यवस्था की गई। एक लंबे-चौड़े चबूतरे पर पत्थर के दहकते कोयलों की लपटों में डेनवर्ग को देर तक चहल कदमी करनी थी। प्रदर्शन के लिए जोरदार विज्ञापन किया गया। अस्तु उसे देखने के लिए दूर-दूर से भारी संख्या में एकत्रित हुए लोगों से प्रदर्शन का विस्तृत मैदान खचाचख भर गया। नियत समय पर प्रदर्शन हुआ और ज्वालाओं के बीच युवक नंगें पैरों बहुत समय तक टहलता रहा। निकला तो उसके शरीर पर कहीं एक छाला भी नहीं था।

मंत्र-साधना के नाम पर चल रही ठगी भी कम नहीं है। उस आड़ में धूर्तों का काला बाजार भी खूब पनपता है, इतने पर भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि इस क्षेत्र में तथ्य कुछ भी नहीं है। यदि गहराई में उतरा जाए तो प्रतीत होगा कि साधना विज्ञान की भी अपनी उपलब्धियाँ हैं और उनके सहारे दिव्य-क्षमताओं के अभिवर्धन की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है।

● कार्क का आदमी—

ऐंजलीफेटीफोमो नामक ७२ वर्षीय वृद्ध आदमी कार्क का कहा जाता था। कार्क की लकड़ी सबसे हल्की होती है और वह सबसे अधिक सरलातापूर्वक पानी पर तैरती रहती है। कहते हैं कि ऐंजली में भी कुछ ऐसी ही विशेषता थी। यद्यपि उसके द्वारा दिखाए गये करतबों के अवसर पर बार-बार डॉक्टरों द्वारा उसके शरीर की परीक्षा की जाती रही कि आखिर उसमें ऐसी क्या अलौकिकता है, जिसके कारण वह पानी पर इतने अनौखे ढंग से तैर सकता है।

ऐंजली इटली के मोची का लड़का था। उसे पानी पर तैरने का भारी शौक था। उसके बाप ने इसके लिए उसे रोका, न मानने पर एक दिन तो उसकी बुरी तरह पिटाई भी कर दी। लड़का भाग खड़ा हुआ। तब वह दस वर्ष का था। उसने पानी के जहाज पर एक छोटी-सी नौकरी प्राप्त कर ली और बाप से छिपकर अमेरिका के लिए रवाना हो गया।

जहाज अपने रास्ते चला जा रहा था कि एक तट पर कोई व्यक्ति डूबता-उतरता अपनी प्राणरक्षा की गुहार कर रहा था। ऐंजली से यह न देखा गया और वह अपने जहाज पर से छपाक से अथाह समुद्र में कूदा और देखते-देखते उस डूबते व्यक्ति तक तीर की तरह तैरता हुआ पहुँचा और २०० पौंड भारी उस आदमी को घसीटकर यथास्थान पहुँचा दिया। जहाज के नाविक लड़के के इस दुस्साहस पर क्षुब्ध थे। उन्होंने नाव खोली और उसे बचाने के लिए तैयारी की तब तक अपना काम निपटाकर ऐंजली वापिस आ गया और रस्से के सहारे चढ़कर अपनी जगह पर पहुँच गया। नाविक स्तब्ध थे कि वह लड़का क्या है, कमाल है।

आगे चलकर उसकी जल-तरण सिद्धि अमेरिका भर में एक जादू-चमत्कार की तरह देखी जाती रही। उसने ही दुस्साहस भरे सार्वजनिक प्रदर्शन किए, जिनकी चर्चा उन दिनों प्रायः सभी अखबारों में भरी रहती थी। जल की सतह पर बिना हाथ-पैर

हिलाए घंटों आराम से तैरते रहना, इसके लिए साधारण काम था। कुर्सी के साथ बाँधकर गहरे पानी में फेंका जाना, हाथ-पैरों से मनों लोहे का वजन बाँधकर पानी में डाल दिया जाना, इस पर भी लगातार ५५ घंटे तैरते रहना, बोरे में सींकर भारी वजन बाँधकर नदी में प्रवाहित कर दिया जाना ऐसे कृत्य थे, जिसे देखने वाले यही सोचते थे कि अब उसका बच सकना असंभव है, फिर भी जल से वह गेंद की तरह उछलता-कूदता बाहर निकला तो उसे कार्क का बना आदमी कहा जाने लगा और न्यूयार्क वर्ल्ड जैसे अखबारों ने उसके करतबों को दाँतों तले उँगली दबाने जैसे आश्चर्य बताया।

इस तरह के सभी उपलब्ध उदाहरणों को प्रकाशित करने के लिए दस हजार पृष्ठों का ग्रंथ भी अपर्याप्त रहा होगा। प्रश्न यह है कि इन विलक्षणताओं, अद्‌भुत उदाहरणों का मूल कारण क्या है ? उत्तर एक ही है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा का पुत्र अनंत संभावनाओं और अटूट शक्तियों का भंडार है। ये उदाहरण जहाँ उसकी शक्तिमान संभावनाओं के द्योतक हैं, वहीं यह भी सिद्ध करते हैं कि मानवी काया में इतनी विलक्षणताओं को भरने वाली व्यवस्था सत्ता कितनी महान् और विराट् होगी ?

❐ ❐

संसार से भी विचित्र उसके प्राणी

इस संसार का निर्माण करने वाली समर्थ सत्ता ने अपने सृजन कार्य में कितनी पैनी और सूक्ष्म 'बुद्धि' से काम लिया है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रकृति के आँगन में रहने वाले सूक्ष्मजीवियों से लेकर विशालकाय प्राणियों का जीवनक्रम, उनके क्रियाकलापों का अध्ययन करते हैं, तो उन्हें देखकर विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है और यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि इतने विलक्षण, विचित्र और जटिल जीवन क्रम का कोई रचयिता, नियंता है अवश्य।

एक से एक विचित्र और विलक्षण मनुष्य, किन्हीं भी दो व्यक्तियों की आकृति-प्रकृति में कोई साम्य नहीं, प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न विशेषताओं-सामर्थ्यों से युक्त और फिर उनकी अगणित संख्या निश्चित ही किसी नियामक समर्थ सत्ता का आभास देती है। उदाहरण के लिए सूक्ष्मजीवियों को ही लें, जिनकी शरीर रचना को जीवविज्ञान के द्वारा एक कोशीय से लेकर कई कोशीय जीवों की श्रेणियों में विभक्त किया है। इन जीवों की विविध जातियाँ होती हैं। सूक्ष्मजीवियों की ही तरह सरलतम जीवधारी 'वायरस' (विषाणु) होता है। वायरस अपने आप में एक कोशिका नहीं होता। इसमें केवल एक न्यूक्लिक अम्ल होता है, कभी डी. एन. ए. और कभी आर. एन. ए.। वायरस भी अपने से, अपने जैसी अनंत प्रतिकृतियाँ पैदा कर सकते हैं, पर वे यह कार्य परपोषी कोशिका के अंदर ही कर सकते हैं। जीवाणुओं की किस्मों की विविधताओं तथा व्यवहार की भिन्नताओं के कारण की सूक्ष्मजीव विज्ञान की आज अनेक शाखाएँ हैं। 'वायरोलोजी' संक्रामक रोगों के जीवाणुओं का अध्ययन करती है। निरोग विज्ञान के अंतर्गत संक्रामक रोग के जीवाणु जिन जीवों पर आक्रमण करते हैं, उनकी प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है, जानपादित रोग विज्ञान के अंतर्गत रोगोत्पादक सूक्ष्म

जीवों के जीवन विकास-विस्तार और विहार तथा इनके संभावित नियंत्रण के उपायों का अध्ययन होता है और केमोथेरेपी में सूक्ष्मजीवों के विनाश के साधनों का अध्ययन होता है आदि।

प्रयोगशाला में सूक्ष्म जीवियों की विभिन्न नस्लें जिस पदार्थ में पैदा की जाती हैं, उस पदार्थ को 'संवर्धन माध्यम' कहा जाता है। संवर्धन-माध्यम में समभागी जीवाणु-समूह पैदा कर जीव रासायनिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है। जीवाणु खाद्य के रूप में जिस पदार्थ का उपयोग करते हैं, वह पचकर रूपांतरित हो जाता है, इसे ही 'चयापचित' होना कहते हैं।

जीवाणुओं की प्रत्येक नस्ल एक-दूसरे से भिन्न होती है। इस भिन्नता का कारण जिस खाद्य का जीवाणु प्रयोग करते हैं, जिन पदार्थों का वे विच्छेदन करने में समर्थ होते हैं और रासायनिक ऊर्जा स्रोत अथवा सूर्य से वे जो ऊर्जा प्राप्त करते हैं, उनकी मात्राओं की भिन्नताएँ होती हैं, क्योंकि खाद्य-पदार्थ व ऊर्जा की मात्रा का संयोग हर बार भिन्न-भिन्न संभव है, इसीलिए जीवाणुओं की नस्लें भी परस्पर भिन्न होती हैं।

दाल-रोटी, साग आदि का स्वाद बिगड़ जाना, दूध का खराब हो जाना, रोटी में फफूँदी आ जाना, अचार वगैरह को फफूँदी लग जाना इन सबका कारण सूक्ष्मजीव ही होते हैं। ताजे संतरे का रस निकालकर खुली हवा में रख दें तो दो दिन में खराब हो जायेगा। यदि वही रस बोतल में इस युक्ति के साथ रख दिया जाए कि वहाँ सूक्ष्मजीवी हवा के साथ पहुँच न पाएँ, तो वह महीनों बाद भी वैसा ही ताजा निकलेगा।

गठिया तथा अन्य सूजन वाले रोगों के इलाज के लिए एड्रेनल हारमोन की जरूरत पड़ती है। वृद्धावस्था में विशेषकर और विशिष्ट परिस्थितियों में किसी भी उम्र में प्रतिस्थापन-चिकित्सा में पुरुष तथा स्त्री को नव-शक्ति देने के लिए हारमोन जरूरी होते हैं।

मनुष्यों तथा पशुओं में शारीरिक ऊतकों के विकास के लिए भी हारमोन जरूरी होता है। शल्य-चिकित्सा के समय ऊतकों को

जो क्षति पहुँचती है, उन्हें पुनर्लाभ के लिए प्रेरित करने हेतु मनुष्य को इन हारमोनों की जरूरत पड़ती है। जबकि पशुओं में मांस उत्पादन की वृद्धि हेतु हारमोन दिए जाते हैं। परिवार नियोजन हेतु निरोधक गोलियाँ बनाने के लिए भी हारमोन जरूरी होते हैं।

इन हारमोनों का प्राप्त करना अब तक बहुत ही कठिन था। हाल ही में सूक्ष्म जीवविज्ञान के क्षेत्र में हुई खोज ने इसे सरल बना दिया है। एक ऐसे जीवाणु-समूह तथा रासायनिक की खोज की गई है, जिनके गुणों के कारण एंड्रोस्टान नामक पदार्थ का उत्पादन संभव हो सका है। इस एंड्रोस्टान को आसानी से रूढ़ हारमोनों में बदला जा सकता है। इस प्रक्रिया के औद्योगीकरण से ऊपर लिखे सभी हारमोन सुलभ हो सकेंगे।

इसी तरह अभी तक भेड़ की ऊन की वसा में से कोले-स्ट्रॉल नामक एक पदार्थ प्राप्त कर, उसे रूढ़ हारमोनों में बदला जाता था। पर परंपरागत रासायनिक विधियों से इस कोलस्ट्रॉल को हारमोनों में बदलना बहुत कठिन होता था। कुछ समय पूर्व ऐसे सूक्ष्मजीवी खोज निकाले गये हैं, जो कोलेस्ट्रॉल को हारमोनों में बदलने में मददगार सिद्ध हुए हैं।

इससे एक बड़ा फायदा होगा। परिवार नियोजन की निरोधक गोलियों के सुलभ होने तथा उनकी अंधाधुंध मूल्य-वृद्धि रुकने का। ये गोलियाँ मेक्सिको तथा मध्य अमरीका के पहाड़ी इलाकों में उगने वाले अरबी से निकाले जाने वाले एक रासायनिक पदार्थ से बनने वाली दो रूढ़ हारमोनों से बनती हैं। इस पदार्थ का वार्षिक उत्पादन लगभग ७०० टन प्रतिवर्ष होता है, किंतु जिन जंगली पौधों से ये निकाला जाता है, वे बड़ी मात्रा में चुन लिये गये हैं, जबकि उनकी पैदावार देर से तथा कठिनाई से होती है। इससे इनका मूल्य लगातार बढ़ रहा था। अब कोलेस्ट्रॉल के रासायनिक परिवर्तन हेतु सहायक सूक्ष्मजीवियों की खोज से यह समस्या सुलझी है।

इसी तरह विश्व-खाद्य समस्या के समाधान में भी सूक्ष्मजीवी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रतिवर्ष बढ़ने वाली ७ करोड़ की आबादी को २० लाख टन अतिरिक्त प्रोटीन चाहिए। इसके लिए ४ करोड़ हेक्टेयर अतिरिक्त जमीन पर सोयाबीन की खेती की जरूरत पड़ेगी, जबकि एक कोशिकीय प्रोटीन के व्यापक पैमाने पर उपयोग करने पर २०० घन मीटर धारिता वाले २००० टैंक (तालाब) २० लाख टन अतिरिक्त प्रोटीन सूक्ष्मजीवियों की सहायता से तैयार करने के लिए काफी होंगे। इस विधि से इस २० लाख टन अतिरिक्त प्रोटीन के लिए सिर्फ एक हेक्टेयर जमीन पर्याप्त होगी। सोयाबीन उत्पादन की वर्तमान विधि द्वारा इतने ही प्रोटीन के उत्पादन हेतु वांछित भूमि का यह ४ करोड़वाँ भाग है।

इसी तरह औद्योगिक प्रक्रिया से काफी मात्रा में बनने वाले कूड़े का उपयोग प्रोटीन बनाने तथा बढ़ाने में किया जा सकता है—सूक्ष्मजीवियों की सहायता से। यदि विश्व के वर्तमान तेल उत्पादन से उपलब्ध संपूर्ण पैराफिन को प्रोटीन में बदल दिया जाए, तो लगभग ७० करोड़ टन प्रतिवर्ष का उत्पादन होगा।

दुनिया का १० प्रतिशत दूध प्रतिवर्ष पनीर बनाने के काम आता है। इस प्रक्रिया में प्रोटीन जमाने के लिए दुधमुँहे बछड़े के पेट से प्राप्त होने वाला एक किण्वाणु को जिसका नाम रेन्नेट है—मिलाना जरूरी होता है।

इस रेंन्नेट के लिए प्रतिवर्ष ४ करोड़ बछड़ों का वध किया जाता था। पिछले ५५ वर्षों में तो पनीर उत्पादन खूब बढ़ा। पर फिर रेन्नेट की कमी का सामना करना पड़ गया। सूक्ष्म जीव विज्ञानियों ने फफूँदी के विलगन से रेन्नेट की ही तरह के किण्वाणुओं के उत्पादन की विधि खोजी। इससे केवल एक ग्राम तैयार पदार्थ ७०० किलोग्राम पनीर बनाने को पर्याप्त होता है।

विभिन्न प्रकार के दूषणों के लिए सूक्ष्मजीवी जिम्मेदार माने जाते रहे हैं किंतु पर्यावरण की सफाई में भी सूक्ष्मजीवी की उतनी ही प्रमुख भूमिका है। गंदे द्रव की सफाई की मोटेतौर पर तीन

विधियाँ हैं—क्रियाशील, कीचड़-विधि, निस्पंदन तथा किण्वीकरण। तीन विधियों में सूक्ष्मजीवियों की भूमिका प्रमुख है। तीसरी विधि मीथेन-किण्वीकरण में एक विशेष प्रकार के जीवाणु कार्बनिक गंदगी को कार्बनिक अम्ल में बदल देते हैं। उसके बाद मीथेन-जीवाणु कार्बनिक अम्लों को मीथेन तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड में बदल देते हैं। इस विधि में गति मंद होती है। पर लाभ यह है कि गंदगी की ऊर्जा का ८० प्रतिशत से अधिक मीथेन के रूप में मिल सकता है। मीथेन का एक स्वच्छ ईंधन की तरह प्रयोग संभव है। इस तरह सूक्ष्मजीव दुनिया की एक और बड़ी समस्या के समाधान में सहायक हो सकते हैं।

लाइसीन उन तीन अनिवार्य अमीनो अम्लों में से एक है, जो अनाज में नहीं होते। गेहूँ या मक्का में मात्र १।४ यानी ०.२५ प्रतिशत लाइसीन मिलाने पर आटे का जैवीयमान बढ़कर दूध के बराबर हो जाता है। पशुओं को भी चारे के साथ दिए जाने पर लाइसीन बहुत लाभ पहुँचाता है।

सूक्ष्मजीवों की सहायता से अनाज के खाद्यमान को भी बढ़ाया जा सकता है। मनुष्य के लिए २० में से ६ अमीनों अम्ल आवश्यक हैं। अन्न प्रोटीन पशु प्रोटीनों से घटिया होते हैं, अतः इनमें कुछ अमीनों अम्लों की कमी होती है।

व्यावसायिक पैमाने पर सूक्ष्मजीवों की सहायता से अमीनों अम्लों का उत्पादन किया जा रहा है। साथ ही जापानी सूक्ष्मजीव विज्ञानियों ने ग्लूनेटिक अम्ल तैयार करने वाला जीवाणु ढूँढ़ निकाला है। प्रदीपन से यही जीवाणु एक उत्परिवर्ती पैदा करता है, जो लाइसीन नामक पदार्थ के बड़े पैमाने पर उत्पादन में सहायक होता है।

ऐसे स्वादहीन विभिन्न खाद्य पदार्थ जो विश्व में उपलब्ध हैं, पर अभी खाद्य प्रयोग में नहीं आते, उन्हें स्वादिष्ट बनाने में भी सूक्ष्मजीवियों की मदद जरूरी है।

इस तरह पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या और विश्व खाद्य समस्या, विश्व की इन दो सबसे बड़ी समस्याओं के समाधान में सूक्ष्मजीवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आबादी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या के क्षेत्र में भी परिवार नियोजन-निरोधक गोलियों के निर्माण में इनका विशिष्ट योगदान है। मनुष्य को निरोग बनाने हेतु उपचारों औषधियों के निर्माण में भी इनकी अनिवार्यता है। ऊर्जा की समस्या में भी उनकी सहायता समाधानकारक सिद्ध होगी।

विकास तथा प्रौद्योगिक प्रगति में प्रौद्योगिक सूक्ष्म जीवविज्ञान की विशिष्ट भूमिका है। कृषि, कोशिकीय, आण्विक, आनुवंशिक तथा विकिरण जीव वैज्ञानिक अनुसंधान इसकी शाखाएँ हैं। उद्योग, अभियांत्रिकी एवं औषध क्षेत्रों में इसके प्रभावी परिणाम सामने आए हैं।

एक पूर्ण-पोषित मनुष्य अपने जीवन में पानी और ऑक्सीजन के साथ-साथ बड़ी तादाद में कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन ग्रहण करता है। इनका उत्पादन सूक्ष्मजीवों पर ही निर्भर करता है। पानी को प्राकृतिक रूप से शुद्ध कौन करता है ? सूक्ष्मजीव।

जंतुओं और पौधों के मरने के बाद सूक्ष्मजीव इन्हें अपघटित करते हैं। अन्यथा इनसे पर्यावरण में प्रदूषण ही फैले। एक आदमी अपने संपूर्ण जीवन में जितना कूड़ा बनाता है, उसी से एक पहाड़ बन जाए, यदि सूक्ष्मजीव उन्हें अपघटित करके; प्रकृति-चक्र में दुबारा न डाल दें।

इसके साथ ही सूक्ष्म जीवविज्ञानी नाइट्रेटों को वायुमंडलीय नाइट्रोजन में बदलने की क्षमता के विकास की भी कोशिश कर रहे हैं, जिससे गंदे पानी के पौधों और खेतों के नाइट्रेट द्वारा नदियों झीलों में फैल रही सड़न समाप्त की जा सकेगी।

यह आशा भी है कि सूक्ष्मजीवों का उच्चजीवों में आनुवंशिक रूपांतरण संभव होगा, इससे कुछ मानवीय किण्वाणु कमियाँ पूरी की जा सकेंगी। दालों की जड़ों में रहने वाले नाइट्रोजन-उत्पादक

सूक्ष्मजीवों को यदि सामान्य अनाज की जड़ों में संयुक्त किया जा सका तो इससे भी आर्थिक एवं सामाजिक लाभ होगा, क्योंकि इन अनाजों का खाद्यमान इससे बढ़ जायेगा।

सूक्ष्मजीवियों से संभावित सहयोग के अलावा प्रकृति ने विभिन्न जीव-जंतुओं को इतनी सामर्थ्य दे रखी है कि वह स्वयं भी परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल सके अथवा प्रस्तुत प्रतिकूलताओं से मुकाबला करने की सामर्थ्य जुटा सके।

● समर्थ सशक्त जीवनी शक्ति

उदाहरण के लिए बीमारियों का निदान करने के लिए रक्त, मल, मूत्र, थूक आदि की परीक्षा की जाती है और देखा जाता है कि प्रस्तुत रोग के कारण कौन-से विषाणु हैं ? रोगी के शरीर में जो विषाणु पाए जाते हैं, उन्हें मारने के लिए औषधि कारगर होती है, उसको उपचार के रूप में सेवन कराया जाता है।

समझा यह जा रहा है कि उन कीटाणुओं की आकृति-प्रकृति समझ ली जाए और उन्हें मार डालना किस रसायन के उपयोग से संभव हो सकता है ? इसका पता लगा लिया जाए तो रोगों से, उनके उत्पादन विषाणुओं से छुटकारा प्राप्त कर लिया जायेगा।

पूना की विषाणु अनुसंधानशाला ने मनुष्यों की तरह समय-समय पर पशु-पक्षियों में भी फैलने वाली महामारियों का लेखा-जोखा तैयार किया है। रानीखेत में एक बार कोयलों पर विपत्ति टूटी थी, मैसूर के क्यासानूर वनों में बंदरों का सफाया हुआ था। नागपुर की मस्तिष्क-शोथ बीमारी, कलकत्ता का रक्तास्रावी ज्वर, दिल्ली का पीलिया और सूरत प्लेग सभी को याद है। महामारियों के ऐसे आक्रमण अक्सर होते रहे हैं। प्रथम-महायुद्ध के बाद—हैजा, प्लेग और इन्फ्लुऐंजा की जैसी बाढ़ आई थी, वह किसी से छिपी नहीं है।

अब तक प्रायः २०० से अधिक प्रकार के विषाणु—'आर्थोपोड-वोर्नवाइरस'—ढूँढ़े जा चुके हैं। ये मक्खी, मच्छर, पिस्सू,

खटमल जैसे छोटे कीड़ों के शरीर पर कब्जा जमाते हैं और फिर उनके संपर्क में आने पर मनुष्य भी प्रभावित होते हैं।

राकफैलर फाउंडेशन तथा इंडियन कौंसिल ऑफ मेडीसिन रिसर्च ने पिछले दिनों विषाणुओं की आकृति-प्रकृति के संबंध में तो सुविस्तृत लेखा-जोखा तैयार किया है, पर वे भी ऐसा कुछ ठोस उपाय नहीं निकाल सके कि किस प्रकार इन रक्त-बीजों से छुटकारा पाया जाये ? क्योंकि उनके आक्रमण ऐसे छद्म और इतने तीव्र हैं कि जब तक रोकथाम का अवसर आए, तब तक तो वे अपना तीन चौथाई काम पूरा कर लेते हैं।

विषाणुओं की खोजबीन न केवल भारत में, वरन् समस्त संसार में हो रही है किंतु अब तक जो परिणाम निकले हैं, वे बहुत उत्साहवर्धक नहीं है, क्योंकि मारण प्रयोग की सार्थकता पूर्णतया संदिग्ध होती चली जा रही है। इसका एक कारण तो यह है कि रोग-कीटकों के साथ-साथ जीवनरक्षक स्वस्थ कीटाणु भी मरते हैं, क्योंकि दवा तो रक्त में मिलकर, मार-काट मचाती है, वह रोग को मारने और निरोग को बचा देने की समझ वाली नहीं होती। इसलिए जहाँ रोग-कीटकों को मारने में आंशिक सफलता मिलती है, वहाँ शरीर की जीवनी-शक्ति इतनी दुर्बल हो जाती है कि इसके फलस्वरूप किसी रोग की सामयिक निवृत्ति भले ही हो जाए, पर पीछे-पीछे अनेक विकृति-विद्रोह उठ खड़ा होने की संभावना बन जाती है। दूसरी एक बात यह है कि विषाणु-मारक औषधि प्रयोग के पहले झोंके में तो कुछ न कुछ मरते हैं, पर जो बच जाते हैं, ऐसे ढीठ बन जाते हैं कि दवाएँ उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर पातीं।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन ने रोग-वाहक कीटों की आनुवांशिकता पर एक अन्वेषण रिपोर्ट प्रकाशित करके, बताया है कि कीट-नाशक दवाएँ आरंभ में तो मार-काट करने में सफल होती हैं, पर जो जीवित बच जाते हैं, उनमें इन कीट-नाशक दवाओं से लड़ने की क्षमता भी तेजी से विकसित हो जाती है। इस वातावरण में रहते-रहते वह कीट निर्भय हो जाते हैं और फिर डी० डी० टी०,

ऐल्ड्रिन जैसी दवाएँ भी उन्हें नष्ट करने में असमर्थ हो जाती हैं। अभ्यस्त कीड़े इन विषैली दवाओं पर निर्भय होकर बैठे रहते हैं—इतना ही नहीं, कितने ही तो इन विषों के रसास्वादन का भी प्रेमपूर्वक आनंद लेते हैं। जो बात फसल-नाशक कीटाणुओं पर लागू होती है, ठीक वही मानव शरीर में भीतर अड्डा जमाए बैठे विषाणुओं पर लागू होती है। कुछ दिन के अभ्यास के बाद वे भी दवाओं को अँगूठा दिखाने लगते हैं।

इन परिस्थितियों में यही सोचना पड़ रहा है कि कीटाणुनाशक दवाओं पर लगने वाले प्रयत्न एकांगी न रहने दिया जाए, वरन् शरीरों में उस जीवनी-शक्ति के उद्‌भव का प्रयास किया जाए, जिसके रहते न विषाणु बाहर से आक्रमण कर सकें और न मलों वं सड़न के कारण भीतर ही उत्पन्न हो सकें। स्वास्थ्य-संबंधी सामान्य नियमों का पालन करना, आहार-विहार में प्रकृति के अनुरूप सामंजस्य उत्पन्न करना ही वह वास्तविक उपाय है, जिससे विषाणु की विभीषिका से निपटने का स्थायी उपाय निकल सकता है।

एक और भी चिंताजनक पक्ष यह है कि यह मारक औषधियाँ भी विषाणुओं से कम घातक नहीं हैं। यदि उनका मारक-तत्त्व किसी प्रकार प्रबल हो सके तो फिर उसकी भयंकरता किसी महामारी से कम न रहेगी। लाभ सोचने के स्थान पर रोग और रोगियों के ही नहीं, स्वस्थ मनुष्यों के सफाया होने की संभावना भी सामने आ खड़ी होगी।

खरगोशों की बहुलता से निपटने के लिए उनमें एक मारक तत्त्व की सुई लगाने का ऐसा ही प्रयोग हुआ है, जिसने विषाणु-नाशक दवाओं के सेवन के साथ जुड़ी हुई विभीषिका को सामने लाकर खड़ा कर दिया है। फ्रांस में एक डॉक्टर ने अपने बगीचे के खरगोश मारने के लिए उन्हें एक जहरीला इंजेक्शन लगाया, उसका अनुमान था कि इन खरगोशों के संपर्क में आने वाले बगीचे के कुछ और खरगोश भी मर जायेंगे। पर परिणाम

अप्रत्याशित हुआ, वह मारक छूत इस प्रकार अनियंत्रित होकर फैली कि योरोप में खरगोशों के वंश नाश का ही संकट उत्पन्न कर दिया। घटना इस प्रकार घटी कि—

फ्रांसीसी डॉ० पाल अमर्दाडिलाइल के बगीचे में खरगोशों का बाहुल्य था, वे आए दिन नए पौधे नष्ट कर देते। इससे वे खरगोशों पर बे-तरह झल्लाए हुए थे। खरगोश मारने की दवा का विज्ञापन पढ़ा तो उनकी बाँछें खिल गईं और दूसरे ही दिन उसे मँगाने का आर्डर दे दिया और वह कुछ ही दिनों में आ भी गई। उनका विचार अपने बगीचे के खरगोशों को खत्म करने का था। सो बताई हुई तरकीब के अनुसार उन्होंने दो खरगोश पकड़े, उन्हें दवा के इंजेक्शन लगाये और बगीचे में छोड़ दिया। खरगोश बीमार पड़े, उनकी छूत बगीचे के अन्य खरगोशों को लगी और वे उसी छूत की बीमारी से सबके सब मर गए। डॉक्टर को अपनी इस सफलता पर बहुत प्रसन्नता हुई।

एक बात एक ही बगीचे तक समाप्त नहीं हुई। छूत फैली और उसने पहले फ्रांस भर के खरगोशों का सफाया किया और पीछे सारे योरोप में उन पर कहर बरसा दिया।

फ्रांस में मांस के लिए खरगोश पाले जाते थे। किसानों ने पशु पालन के घरेलू उद्योग में खरगोशों को भी शामिल कर रखा था। सरकारी शिकारगाह में शिकारियों के लिए लाइसेंस लेकर खरगोशों के शिकार की अनुमति मिलती थी। इससे सरकारी खजाने में करोड़ों रुपया लाइसेंस-फीस का जमा होता था। अनुमान किया जाता है कि प्रायः २० लाख खरगोशों का मांस उस देश के निवासियों को मिलता था। उनकी खाल काफी कीमती बेची जाती थी और उसने किसानों तथा शिकारियों को काफी पैसा मिलता था। चमड़े के उद्योग में इस चमड़े की बड़ी भूमिका थी। इस उद्योग से सरकार को २० लाख करोड़ फ्रेंक का टैक्स मिलता था और चमड़े के कारखानों में प्रायः एक लाख कर्मचारी काम करते थे। द्वितीय महायुद्ध के समय तो भुखमरी से खरगोशों ने ही फ्रांसीसियों को

बचाया था। उन दिनों प्रायः ८४ लाख खरगोश हर साल मारे जाने लगे थे।

योरोप भर में इन उपयोगी खरगोशों का इतनी तेजी से सर्वनाश होने से सर्वत्र हा-हाकार मच गया। उन दिनों प्रति तीन वर्गमील के इलाके में २० हजार खरगोश जमीन पर मरे हुए पड़े पाए गए। जंगलों और झाड़ियों में मरने-सड़ने वालों की संख्या तो और भी बढ़ी-चढ़ी थी। बीमार खरगोशों से गाँवों की गलियाँ भरने लगीं और सड़कों पर पहुँचकर, वे तेज दौड़ती मोटरों से कुचलने लगे। सड़कें इस रक्त-मांस से घिनौनी हो गईं। यह समस्या उन दिनों योरोप की एक बड़ी समस्या बन गई थी।

खरगोशों का वंशनाश करने वाली इस दवा का नाम था—'भिकजा मेटोसिस' उसे आस्ट्रेलिया की सरकारी प्रयोगशाला में बढ़े हुए खरगोशों को नष्ट करने के लिए बनाया था। इस दवा के इंजेक्शन लगाकर कुछ खरगोश जंगलों में छोड़े गये, फलस्वरूप छूत की बीमारी उन्हें लगी और बड़ी संख्या में वे मर गये। इससे वे मरे तो, पर वैसा सफाया नहीं हुआ जैसा कि योरोप की जलवायु ने उन पर कहर बरसाया।

इस संकट के निवारण का खरगोशों की नस्ल बचाने के लिए फैली हुई महामारी पर नियंत्रण करने का काम पाश्चर इन्स्टीट्यूट ने अनेक सरकारों के अनुरोध पर अपने हाथ में लिया। डॉ० प्येरलेपे के नेतृत्व में एक बेक्सीन निकाला गया और उससे उस महामारी पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सका।

रोकथाम के लिए जो 'एंटीभिकजामेटोसिस इंजेक्शन बनाया जा सका, उससे इतना ही हो सका कि खरगोशों की नस्ल मिटने से बचाई जा सके। पाश्चर इन्स्टीट्यूट के कर्मचारियों ने बड़ी मेहनत करके दो वर्ष में ४ लाख स्वस्थ खरगोश पकड़े और उन्हें टीका लगाकर जंगलों में छोड़ दिया, ताकि वे उस महामारी के प्रभाव से अपने को बचा सकें और भविष्य में नस्ल पैदा कर सकने

योग्य बने रह सकें। जिन्हें टीका नहीं लगाया जा सका, वे तो बेचारे तेजी से मौत के ग्रास बनते ही चले गये।

बेलजियम, लग्जेम्बवर्ग, जर्मनी आदि देशों में भी खरगोशों का इसी प्रकार इस महामारी ने सफाया किया। डॉ० पाल डिलाइल ने कुछ खरगोश पर ही मारक प्रयोग किया था, पर इसकी विष-बेल फैली तो उसने करोड़ों के ही प्राण ले लिए।

विषाणुओं की भयंकरता और उनकी हानि कम नहीं है। उनके निराकरण का उपाय किया जाना चाहिए। पर वह अति उत्साह भरा और एकांगी नहीं होना चाहिए। मारक औषधियों की उलटी प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए उनका प्रयोग फूँक-फूँक कर करने में ही कल्याण है।

अन्य प्राणी प्रकृति के आक्रमण को एक सीमा तक ही सहन कर सकते हैं और अधिक दबाव पड़ने पर दम तोड़ देते हैं, पर मानवी काया का निर्माण इतना लोचदार है कि वह विपन्न परिस्थितियों में भी निर्वाह कर सकता है और अपने आपको इस प्रकार ढाल सकता है, जिससे प्रकृति का दबाव उसे चुनौती न दे सके।

'न्यूरोफिजियोलॉजिकल बेसिस ऑफ माइंड, ग्रंथ में उदाहरणों और प्रमाणों में यह बताया गया है कि मनुष्य का सामान्य निर्वाह १५° सेंटीग्रेट में होता है, पर वह १० हजार फुट से अधिक ऊँचाई पर जहाँ टेंप्रेचर ५५° सेंटीग्रेट होता है तथा ऑक्सीजन की कमी से असुविधा पड़ती है, वहाँ भी कुछ ही दिनों के अभ्यास से सरलतापूर्वक निर्वाह करने लगता है। यहाँ तक कि २० हजार फुट पर जहाँ २५° सेंटीग्रेट तापमान रहता है, वहाँ भी जिंदा रह सकता है और २५ हजार से अधिक ऊँचाई पर जहाँ ४५° डिग्री सेंटीग्रेट शीत होता है, सामान्य बुद्धि के हिसाब से मनुष्य का जीवित रह सकना संभव नहीं, पर उसकी लोच्य ऐसी है जो वहाँ भी जिंदा बनाए रह सकती है।

हिमालय पर रहने वाले हिम-मानव की जीवनचर्या भी कम रहस्यमय नहीं है। यह प्राणी मनुष्य जैसी आकृति, प्रकृति का है। उसे रीछ और मनुष्य का सम्मिश्रण कह सकते हैं। अत्यंत शीत भरे हिम आच्छादित प्रदेश में उतनी ऊँचाई पर वह रहता है, जहाँ साँस लेने के लिए ऑक्सीजन के सिलेंडर पीठ पर बाँधकर पर्वतारोही जाया करते हैं और खुली हवा में साँस लेना मृत्यु को निमंत्रण देना मानते हैं। लंबे समय से वह एकाकी जीवन जीता चला आ रहा है। युगीय सभ्यता से दूर रहते हुए भी उसने अपने रहस्यमय जीवनक्रम को किसी प्रकार अक्षुण्ण बनाए ही रखा है।

हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर रहने वाला हिम-मानव अपने अस्तित्व के समय-समय पर अगणित परिचय देता रहा है। पर अभी तक उसे पकड़ने के प्रयास सफल नहीं हो सके। इस अद्‌भुत प्राणी के संबंध में अधिक जानने के लिए उसे निकट से देखना, समझना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब वह पकड़ में आए। किंतु अति बुद्धिमान समझे जाने वाले मनुष्य की भी यह हिम-मानव अभी तक चकमा ही देता आया है, उसके पकड़ने के प्रयत्नों को निष्फल ही बनाता रहता है। उतने पर भी हिम-मानव का अस्तित्व प्रायः असंदिग्ध ही समझा जाता है।

सन १९७० की २५ मार्च को अन्नपूर्णा शिखर पर चढ़ाई करने और उस क्षेत्र की सबसे ऊँची चोटी पर विजय पताका फहराने के उद्देश्य से ब्रिटिश पर्वतारोहियों का एक दल अपनी दुस्साहस भरी यात्रा कर रहा था। दल के लोग कैंप में विश्राम कर रहे थे। चंद्रमा की चाँदनी सारे हिमाच्छादित प्रदेश को आलोकित कर रही थी। अभी वे लोग सोने भी न पाए थे कि हाथी जैसी भयानक आकृति अपनी लंबी परछाई सहित उधर घूमती हुई दिखाई दी। खतरे की आशंका से वे लोग बाहर निकल आये और राइफलें तान लीं। गौर से देखने पर पाया गया कि यह प्राणी ठीक वैसा ही है जैसा कि हिममानव का वर्णन करते हुए समय-समय पर कहा या सुना जाता रहा है। आधे घंटे तक उसकी हरकतें दल ने शांतिपूर्वक देखीं।

उनका उद्देश्य मारना नहीं, जानना था सो उन्होंने आँखें भरकर देखा। थोड़ी देर में वह उछल-कूद करता हुआ पर्वत श्रृंखलाओं की ओट में गायब हो गया।

रात को पहरा देने की पद्धति अपनाकर बारी-बारी से दल के लोग सोए तो सही, पर आक्रमण का आतंक रात भर छाया रहा। प्रातःकाल वे लोग तलाश करने गये कि कुछ वास्तविकता भी थी या कोई भ्रम ही था। उन लोगों ने मनुष्य जैसे किंतु बहुत बड़े साइज के पद चिह्न देखे, जिनके उन लोगों ने फोटो लिए। वे फोटो तत्कालीन कई प्रमुख पत्रों में उस देखे हुए विवरण के साथ प्रकाशित भी हुए।

इससे पूर्व सन् १९५८ में एक अमेरिकी पर्वतारोही दल विशेषतया हिम-मानव को जीवित अथवा मृतक किसी भी स्थिति में पकड़ने का उद्देश्य लेकर ही आया था। इस दल के एक सदस्य प्रोफेसर टेंबा अपने साथ कुछ शेरपा लेकर, एक क्षेत्र खोज रहे थे। उन्होंने आश्चर्य के साथ एक हिममानव को एक झरने के किनारे बैठे देखा। वह पानी में से मेंढ़क और मछलियाँ बीन-बीन कर बिना चबाए निगल रहा था। प्रोफेसर टेंबा ने उतने रात में फ्लेश लाइट जलाई, तो क्रुद्ध हिम-मानव उनकी ओर दौड़ा। शेरपा समेत वे बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर वापिस लौटने में सफल हुए।

सन् १९५८ में इटली के प्रख्यात पत्रकार गाडविन हिम-मानव की खोज में अपने दल समेत हिमाच्छादित चोटियों पर घूमे। एक जगह मुठभेड़ हो ही गई। राइफल का घोड़ा दबाने की अपेक्षा उन्होंने कैमरे का बटन दबाना अधिक उपयुक्त समझा। कुछ ही मिनट सामने रहकर, वह विशालकाय प्राणी भाग खड़ा हुआ। उसे पकड़ा या मारा तो न जा सका पर फोटो बहुत साफ आए। उसके पैरों के निशानों के भी फोटो उन्होंने लिए और अपने देश जाकर, उन चित्रों को छपाते हुए हिम-मानव के अस्तित्व की पुष्टि की।

तिब्बत और चीन की सीमा पर किसी प्रयोजन के लिए गए एक चीनी कप्तान ने भी हिम-मानव का सामना होने का विवरण अपने फौजी कार्यालय में नोट कराया था।

स्विटजरलैंड का एक पर्वतारोही दल एवरेस्ट पर चढ़ाई करने के लिए आया था। उसके साथ पंद्रह पहाड़ी कुली थे। दल का एक कुली थोड़ा पीछे रह गया। उस पर हिम-मानव ने आक्रमण कर दिया। चीख-पुकार सुनकर अन्य कुली उसे बचाने दौड़े और घायल स्थिति में उसे बचाया।

सन् १८८७ में कर्नल वडैल के नेतृत्व में एक ब्रिटिश पर्वतारोही दल भारत आया था, उसने सिक्कम क्षेत्र में यात्रा की थी। १६ हजार फुट ऊँचाई पर उन्होंने बर्फीली चोटियों पर पाए गए हिम मानव के ताजे पद चिह्नों के फोटो उतारे थे।

वनस्पति विज्ञानी प्रो० हेनरी ल्यूस जिन दिनों वनस्पति शोध के संदर्भ में हिमाच्छादित प्रदेशों में भ्रमण कर रहे थे, तब उन्होंने मनुष्याकृति के विशालकाय प्राणी को आँखों से देखा था। वह तेजी से एक ओर से आया और दूसरी ओर के पहाड़ी गड्ढों में कहीं गायब हो गया। ठीक इसी से मिलते-जुलते साथी सन् १६२१ में एवरेस्ट चढ़ाई पर निकले कर्नल हावर्ड ब्यूरी की है, उनके सामने से भी वैसा ही वन-मानुष से मिलता-जुलता प्राणी निकला था। उस क्षेत्र में आने-जाने वाले बताते थे कि वह अकेले-दुकेले आदमियों और जानवरों को अक्सर मारकर खा जाता है।

भारतीय हिम-यात्री ए० एन० तोंबाजी ने सिक्कम क्षेत्र में हिम-मानव देखने का विवरण बताया था। स्विटजरलैंड के डायरन फर्थ ने भी सन् १६२५ में उसे आँखों से देखा था। नार्वे के दो वैज्ञानिक थोरवर्ग और फ्रसिस्ट किसी अनुसंधान के संबंध में सिक्किम क्षेत्र में गए थे। उन पर हिम-मानव ने हमला कर दिया और कंधे नोंच डाले। गोलियों से उसका मुकाबला करने पर ही वे लोग बच सके। गोली उसे लगी नहीं, किंतु डरकर वह भाग तो गया ही। सन् १६७१ में एक ब्रिटिश यात्री एरिक शिपटन ने भी हिममानव के पैरों के निशानों के बर्फीले क्षेत्र से फोटो खींचे थे। ऐसे ही फोटो प्राप्त करने वालों में डॉ० एडमंड हिलेरी का भी नाम है। सन् १६५४ में कंचनजंघा चोटियों पर सर जानहंट के दल ने

२० हजार फुट ऊँचाई पर हिम-मानव के पद चिह्नों के प्रमाण एकत्रित किये थे। वे निशान प्रायः १८ इंच लंबे थे। न्यूजीलैंड के पर्वतारोही जार्जलोव ने उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हिम-मानव के अस्तित्व को असंदिग्ध बताया था।

सन् १९५५ में इंग्लैंड के दैनिक पत्र 'डेलीमेल' ने अपना एक खोजी दल मात्र हिम-मानव संबंधी अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा था। दल ने बहुत समय तक हिमाच्छादित प्रदेशों में दौरे किए। इस बीच उन्होंने हिम-मानव देखा या पकड़ा तो नहीं, पर ऐसे अनेक प्रमाण, अवशेष एवं चित्र संग्रह करके, उस पत्र में छपाए, जिनसे हिम-मानव संबंधी सब श्रुतियाँ सारगर्भित सिद्ध होती हैं।

असह्य माने जाने वाले शीत और ताप में प्राणियों का विशेषतया मनुष्य जैसे कोमल प्रकृति जीवधारी का निर्वाह होते रहने के उपरोक्त प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि प्रतिकूलताएँ कितनी ही बड़ी क्यों न हों—जीव उन सबसे लड़ सकने में समर्थ है। उसका संकल्प बल ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है। जिसमें असह्य को सह्य और असंभव को संभव बनाया जा सके। न केवल प्रकृति से जूझने में वरन् पग-पग पर आती रहने वाली कठिनाइयों को निरस्त करने में भी संकल्प बल की प्रखरता का तथ्य सदा ही सामने आता रहता है।

जीवों में विद्यमान यह अद्‌भुत क्षमताएँ ईश्वरीय विधान की करुणामूलक व्यवस्था है, ताकि उसकी संतति हर स्थिति में सुरक्षित बनी रहे। इस स्थिति व्यवस्था का कारण किन्हीं अन्य साधनों पर निर्भर नहीं है, बल्कि वह व्यवस्था स्वयं संचालित होती है। इस व्यवस्था के अनुसार स्वयं ही प्रतिकार हो जाता है और स्वयं ही सफल-सुरक्षा की व्यवस्था बन जाती है। यह व्यवस्था नियम केवल मनुष्यों या सूक्ष्मजीवियों के लिए ही नहीं वरन् समष्टि जगत् के सभी प्राणियों के लिए है। विश्व जगत् के सभी प्राणी परम कारुणिक व्यवस्था से लाभान्वित होते और अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं।

❑ ❑

दयानिधान भगवान् के महान् अनुदान

भगवान् को दयानिधान, करुणा सिंधु, अजस्र दानी कहा गया है। उसका कितना अधिक अनुदान मनुष्य को मिला है उसे, यदि समझा जा सके तो उस करुणा सागर की अनुकंपा के प्रति हृदय कृतज्ञता से भर जाए और इसके लिए भावना उमड़े कि ऐसे उपकारी अभिभावक के अनुशासन में रहना, निर्देशित रीति-नीति का पालन करना ही उचित है। मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता सर्वविदित है। इस श्रेष्ठता को प्राप्त करने के साथ-साथ उस पर यह उत्तरदायित्व भी आया कि भगवान् की सृष्टि को सुंदर, समुन्नत और सुरभित बनाने के लिए काम करे और ईश्वर की उस इच्छा, आशा को पूरी करे, जो मनुष्य को विशेष अनुदान देते समय, उसने अपने मन में रखी थी।

भगवान् मनुष्य के लिए ही नहीं, अपने सभी पुत्रों के प्रति उदार है। प्रत्येक जीव को उसने उनकी स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप क्षमताएँ और विशेषताएँ दी हैं। यदि प्राणियों को शरीर ही मिले होते, कुछ अतिरिक्त विशेषता न मिली होती, तो उनका जीवन ही दुर्लभ हो जाता।

परमेश्वर की प्राणियों से संबंधित शक्ति, जिसे प्रकृति कहते हैं—अतिशय उदार है। उसने मुक्त हस्त से प्राणियों को बहुत कुछ दिया है। जीवन धारण करने और सुख-सुविधा के साथ जीने के लिए ही नहीं—आत्म रक्षा के लिए भी वे विशेषताएँ दी हैं, जिनके आधार पर वे आगत विपत्ति एवं कठिनाई का मुकाबला करते हुए अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकें।

किसी भी प्राणी पर दृष्टिपात करें उसे भी प्रकृति का प्यार, संरक्षण और अनुदान प्राप्त हुआ। ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है। जन्मदात्री 'प्रकृति कुमाता' नहीं हो सकती, उसका असीम स्नेह तो सब पर बरसता है। अन्य प्राणी उसका सदुपयोग करते हैं और

दुर्बल, असमर्थ प्रतीत होते हुए भी अपने अस्तित्व की रक्षा कर लेते हैं।

दक्षिणी अमेरिका में एक पक्षी पाया जाता है, उसका नाम है, 'स्लाथ' यह संसार के सबसे अधिक आलसी जीव के रूप में विख्यात है। अपना अधिकांश जीवन वह पेड़ पर उल्टा लटके-लटके ही काट देता है। अपने आस-पास की टहनियाँ और पत्ते ही उसका भोजन है। वर्षा ऋतु आती है और पानी बरसता है, किंतु वह अपनी शीर्षासन मुद्रा का परित्याग नहीं करता। यह प्रकृति के ज्ञान और उसकी महान् कृपा का ही फल कहना चाहिए कि उसके रोएँ सीधे न होकर उलटे बनाए गए हैं, जिससे उसके शरीर पर आया सारा पानी टपक जाता है, अन्यथा उसका नाम अब तक लुप्तप्रायः जीवों की सारिणी में आ गया होता।

ह्वेल मछली संसार का सबसे बड़ा जानवर है। बाईबिल में इसे 'महामत्स्य' लिखा गया है और सचमुच ही उसका मीलों लंबा दैत्याकार शरीर इस संबोधन के सर्वथा अनुरूप है। जब वह साँस छोड़ती है तो ऐसा लगता है जैसे समुद्र के नीचे फौव्वारे छूट रहे हों। एक बार एटलांटिक महासागर में ह्वेल का शिकार किया गया। सांघातिक चोट खाए मत्स्यराज का पेट चीरा गया तो उसके पेट के भीतर से पूरे ६ फीट लंबा और ४ फीट चौड़ा एक कटल मछली का टुकड़ा निकला। १८ फीट लंबा एक अस्थि-पिंजर जो तब तक पच नहीं सका था, वह शार्क मछली का था जो उसके पेट से निकला।

इतनी बड़ी मछली जो पचासों हाथियों को भी तोल सकती है, समुद्र के सारे जीवों को साफ कर गई होती; यदि प्रकृति ने उसका मुँह छोटा न बनाया होता। इसका जबड़ा इतना छोटा होता है कि हेटिंग नामक समुद्री मछली उसके गले में फँसकर श्वाँस की गति में बाधा उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार प्रकृति अन्य समुद्री जीवों की रक्षा करती है।

उड़ने से लेकर मौसम के हर उतार-चढ़ावों को बर्दाश्त करने की जितनी क्षमता चिड़िया के पंखों में होती है, वैज्ञानिक यह मानते हैं कि प्रकृति की उस रचना के समकक्ष आज तक कोई भी आविष्कार मनुष्य नहीं कर सका।

दक्षिण अमेरिका का उत्तरी कार्डिलरा प्रदेश सूखा और अनुपजाऊ पहाड़ी क्षेत्र है, वहाँ न तो कोई पैदावार, न दूध देने वाले पशुओं की व्यवस्था है। वृक्ष भी सूखी पत्तियों वाले पाए जाते हैं। प्रकृति को 'कुमाता भवति' मान लिया जाता, यदि उसने इस सूखे प्रदेश में जीवन की रक्षा का प्रबंध न किया होता। प्रकृति माता ने दया दर्शाई और यह एक पौधा पैदा किया—गोवृक्ष (काऊ ट्री)। देखने में इसकी शाखाएँ मृत और सूखी जान पड़ती हैं, पर जब इसका तना कुरेदा जाता है तो उसमें एक प्रकार का दूध निकलता है, जो मीठा और पौष्टिक ही नहीं होता वरन् अन्न और तरकारियों में पाए जाने वाले सारे तत्त्व भी उसमें पाए जाते हैं। प्रातःकाल भूख लगती है और प्रातःकाल सूर्योदय के समय ही यह उतना दूध देता है कि वहाँ के नीग्रो दिन भर अपना काम चला सकें। वैज्ञानिकों ने इस दूध की जाँच की तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गए कि इस दूध और पशुओं द्वारा प्राप्त दूध में बहुत घनिष्ठ एकता है।

शायद प्रकृति को मालूम था कि सहारा जैसे रेगिस्तान में ऊँट को ही एक मात्र वाहन बनना पड़ेगा। वहाँ मनुष्य को जल मिलता नहीं, ऊँट को कौन पानी पिलायेगा। इसकी चिंता उसने स्वतः की और उसको वह क्षमता प्रदान की जिससे वह एक बार में पूरे ६० लीटर तक पानी पी लेता है और उससे सप्ताहों तक कड़ी धूप में भी अपना गुजारा कर लेता है।

शेर यों तो किसी का भी शिकार कर डालता है, किंतु यदि उसे ५ मील की दूरी पर एक जिराफ दिखाई दे जाए—पर उससे कम दूरी पर अन्य जानवर हो—तो भी उसे कितना ही परिश्रम करना पड़े जिराफ को ही मारने की कोशिश करता है। एक प्रकार का गुलाब जामुन है जिराफ-शेर के लिए। फिर अब तक जिराफ

की नस्ल बची क्यों है ? उत्तर फिर वही मिलेगा—प्रकृति की दया और ममता के कारण। उसने जिराफ की खाल ऐसी बनाई कि वह पेड़ों के बीच खड़ा हो जाता है तो बहुत पास पहुँचकर भी उसे पहचानना कठिन हो जाता है।

साँप—अच्छा हुआ कि प्रकृति ने उसे पृथ्वी के अंदर छिपा रहने वाला जीव बनाया वरना साँप का जहर हजार व्यक्तियों को मार सकता है। जावा और मलेशिया में एक प्रकार के सर्प पाए जाते हैं, जिनके पंख होते हैं और वे उड़ते भी हैं। वे अधिकांश एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर उड़कर ही जाते हैं। उड़ते समय वे चपटे हो जाते हैं और नीचे जमीन पर उतरते समय गोलाकार होते हुए उतरते हैं। इस प्रकार उन्हें आहार प्राप्त करने की, आत्मरक्षा की तथा क्रीड़ा-कल्लोल की विविध सुविधाएँ मिली हुई हैं।

पहलवान पहले अपने घरेलू अखाड़ों में कुश्ती का अभ्यास करते हैं, तब कहीं बाहरी दंगलों में दाँव-पेच दिखाने का साहस करते हैं। विदेशी सैनिकों से लड़ने के पहले देशी फौजें अपने आपको दो हिस्सों में बाँटकर युद्ध का नकली अभ्यास करती हैं। ऐसा न किया जाये तो असली युद्ध लड़ना मुश्किल पड़ जाए। इस तरह का सूक्ष्म ज्ञान तक प्रकृति ने अपने नन्हें मनुष्येत्तर जीवों को प्रदान किया है।

घरों में पाई जाने वाली गौरैया जितनी सीधी और सरल होती है उतनी ही लड़ाकू। पर शत्रु से लड़ने के लिए जवाँमर्दी, वह नकली युद्धाभ्यास करके पैदा करती है। उसकी यह नकली लड़ाइयाँ देखते ही बनती हैं। ऐसे दाएँ-बाएँ से आक्रमण और बचाव करती हैं, मानो वियतनाम और वियतकांग का गोरिल्ला युद्ध चल रहा हो।

नर भुनगा आक्रमण करने में कोई ज्यादा चतुर नहीं होता, वह दुश्मन को हरा भी नहीं सकता, फिर बेचारा अपनी जीवन रक्षा कैसे करता ? उसे प्रकृति ने धमकाने और डराकर शत्रु को भगाने की विद्या सिखाई कोई शत्रु आता है, तो वह अपने जबड़े ऐसे

फैलाता है, मानो कच्चा ही निगल जायेगा। आक्रमणकारी डरकर भाग जाता है तो भुनगा मौज से दूसरी तरफ चल देता है। इसे प्रकृति का प्रशिक्षण न कहा जाये तो और क्या कहा जाये ?

कार्बोलिक एसिड एक जहरीला रसायन है, इसे खाकर कोई जिंदा नहीं रह सकता। उसकी मात्रा अपने स्वाभाविक विकास दर से बढ़ती रहती तो सारा संसार विषमय हो जाता। फिर बात क्या है, जो अभी तक पृथ्वी अमृतत्व से ओत-प्रोत है। प्रोफेसर पी० जी० ग्रे नामक अँग्रेज वैज्ञानिक ने इसकी शोध की तो पांया कि मिट्टी में कुछ ऐसे कीटाणु होते हैं और इस तरह से वे धरती माता को विषाक्त होने से बचा लेते हैं। ऐसे कीटाणु एक-दो नहीं २०० के लगभग तो अब तक खोजे जा चुके हैं।

एक यह नन्हें कीटाणु हैं जो सामान्य होते हुए भी असामान्य कार्य करते हैं—भगवान् शिव के समान। एक है इंसान जो संसार का विष—मानवता पर छाये विषैले वातावरण को मिटाने के लिए एक इंच भी आगे नहीं बढ़ता, भगवान् द्वारा प्रदत्त अपनी असामान्यता को कलंकित करता है। प्रकृति-प्रदत्त विशेषताओं का मनुष्य ने यदि सदुपयोग किया होता, तो निःसंदेह यह धरती तथाकथित स्वर्ग से कम नहीं वरन् अधिक ही साधन-सुविधाओं और सुख-शांति की प्रचुरताओं से भरी-पुरी दीखती।

● इच्छा मात्र से अभीष्ट उपलब्धि

प्राणियों की आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ उनकी शारीरिक, मानसिक शक्तियों तथा भौतिक परिस्थितियों का सृजन करती हैं। इस तथ्य को थोड़ा अधिक गहराई से विचार करने पर सहज ही जाना जा सकता है और उसके अनेकों प्रमाण पाए जा सकते हैं।

समझा जाता था कि वर्षा होने से वृक्ष-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, पर पाया यह गया है कि वृक्षों की आवश्यकता उधर उड़ने वाले बादलों को पकड़कर घसीट लाती हैं और उसे अपने क्षेत्र पर बरसाने के लिए उन्हें बाध्य करती हैं। कुछ दिन पूर्व जहाँ बड़े

रेगिस्तान थे, पानी नहीं बरसता था और बादल उधर से सूखे ही उड़ जाते थे, पर अब जब वहाँ वन लगा दिए गए हैं तो प्रकृति का पुराना क्रम बदल गया और अनायास ही वर्षा होने लगी है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों के बारे में अब यह नया सिद्धांत स्वीकार किया गया है कि वहाँ की वन-संपदा बादलों पर बरसने के लिए दबाब डालती है। बादलों की तुलना में चेतना का अंश वृक्षों में अधिक है, इसलिए वे विस्तार में बादलों में कम होते हुए भी सामर्थ्य में अधिक हैं। अतएव दोनों की खींचतान में चेतना का प्रतिनिधि वृक्ष ही भारी पड़ता है।

आत्म-रक्षा प्राणियों की एक महती आवश्यकता है। जीवों में जागरूकता और पराक्रम वृत्ति को जीवंत बनाए रखने के लिए प्रकृति ने शत्रु पक्ष का निर्माण किया है। यदि सभी जीवों को शांतिपूर्वक और सुरक्षित रहने की सुविधा मिली होती तो फिर वे आलसी और प्रमादी होते चले जाते। उनमें जो स्फूर्ति और कुशलता पाई जाती है, वह या तो विकसित ही न होती या फिर जल्दी ही समाप्त हो जाती।

सिंह, व्याघ्र, सुअर, हाथी, मगर आदि विशालकाय जंतु अपने पैने दांतों से आत्म-रक्षा करते हैं और उनकी सहायता से आहार भी प्राप्त करते हैं। साँप, बिच्छू, बर्रे, ततैया, मधुमक्खी आदि अपने डंक चुभोकर शत्रु को परास्त करते हैं। घोंघा, केंचुआ आदि के शरीर से जो दुर्गंध निकलती है, उससे शत्रुओं को नाक बंद करके भागना पड़ता है। गेंडा, कछुआ, सीपी, घोंघा, शंख, आर्मेडिलों आदि की त्वचा पर जो कठोर कवच चढ़ा रहता है, उससे उनकी बचत होती है। टिड्डे का घास का रंग, तितली का फूलों का रंग, चीते के पेड़-पत्तों की छाया जैसा चितकबरापन होता है। गिरगिट मौसमी परिवर्तन के अनुरूप अपना रंग बदलता है। ध्रुवीय भालू बर्फ जैसा श्वेत रंग अपनाकर, समीपवर्ती वातावरण में अपने को आसानी से छिपा लेते हैं और शत्रु की पकड़ में नहीं आते। कंकड़, पत्थर, रेत, मिट्टी, कूड़ा-करकट आदि रंग में अपने को रंगकर कितने ही

प्राणी आत्म-रक्षा करते हैं। शार्क मछली बिजली के करेंट जैसा झटका मारने के लिए प्रसिद्ध है। कई प्राणियों की बनावट एवं मुद्रा ही ऐसी भयंकर होती है कि उसे देखकर शत्रु को बहुत समझ-बूझकर ही हमला करना पड़ता है।

शिकारी जानवरों को अधिक पराक्रम करना पड़ता है। इस दृष्टि से उन्हें दाँत, नाखून, पंजे ही असाधारण रूप से मजबूत नहीं मिले वरन् पूँछ तक की अपनी विशेषता है। यह अनुदान उन्होंने अपनी संकल्प शक्ति के बल पर प्रकृति से प्राप्त किए हैं।

शेर का वजन अधिक से अधिक ४०० पौंड होता है, जबकि गाय का वजन उससे ड्यौढ़ा दूना होता है फिर भी शेर पूँछ के संतुलन से उसे मुँह में दबाए हुए १२ फीट ऊँची बाड़ को मजे में फाँद जाता है।

प्राणियों की शरीर रचना और बुद्धि-संस्थान भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता है—संकल्प शक्ति, इच्छा तथा आवश्यकता। यह संवेदनाएँ जिस प्राणी की जितनी तीव्र हैं, वे उतने ही बड़े अनुदान प्रकृति से प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य को जो विभूतियाँ उपलब्ध हैं, उनका कारण उसकी बढ़ी हुई संकल्प शक्ति ही मानी गई है।

● प्रकृति परायण वृक्ष

प्रकृति ने कुछ कायदे-कानून ऐसे बनाए हैं, जो सृष्टि-संतुलन की दृष्टि से नितांत आवश्यक हैं। इन नियमों को न केवल मनुष्यों के लिए वरन् प्राणियों के लिए भी बनाया गया है। यहाँ तक कि वनस्पतियों के लिए भी।

मनुष्यों में बुद्धि, धन, बल, प्रतिभा, भावना आदि की संपदाएँ ऐसी हैं, जिन्हें उसके व्यक्तित्व का बीज कहा जा सकता है। इसी के आधार पर हम ऊँचे उठते और आगे बढ़ते हैं। बीज सड़ा-गला हो तो उससे वंश वृद्धि न हो सकेगी। गुण, कर्म, स्वभाव की विभूतियाँ यदि स्वस्थ और समर्थ न हों तो कोई व्यक्ति प्रगति के पथ पर दूर

तक अग्रसर न हो सकेगा। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि हमारी विभिन्न शारीरिक और मानसिक हलचलें इन बीज तत्त्वों को विकसित, परिष्कृत और पुष्ट करने के लिए ही होती हैं। भौतिक और आत्मिक संपदाओं से अधिकाधिक मात्रा में संपन्न होने की अभिलाषा स्वाभाविक मानी जाती है—वह बनी ही रहती है और उनके लिए जाने-अनजाने प्रयास चलते ही रहते हैं।

वनस्पति-जगत् में भी यही प्रक्रिया अपने ढंग से उसी तरह पलती रहती है, जिस तरह मनुष्यों में चलती है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य आत्म-विस्तार है। हम बढ़ें, विकसित हों और सुदूर क्षेत्र तक फैलें, इसके लिए भाँति-भाँति के प्रयत्न पुरुषार्थ किये जाते हैं, यहाँ तक कि युद्ध भी। आध्यात्मिक क्षेत्र में यही विस्तारवाद आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ाकर, सबमें अपने को और अपने में सबको देखने वाला तत्त्वदर्शन हृदयंगम किया जाता है। बीज तत्त्व का विकास और सत्ता का विस्तार करने के लिए हम मनुष्यों के विभिन्न क्रिया-कलापों को सँजोया जाना देखते हैं। यदि यह दो प्रवृत्तियाँ न होतीं तो कदाचित् पेट और प्रजनन जैसी निकृष्ट स्तर के जीवों में पाई जाने वाली तुच्छ हलचलों के अतिरिक्त हम और कुछ महत्त्वपूर्ण सोचने या करने में समर्थ ही न हो पाते। ठीक यही बात वनस्पति जगत् पर भी लागू होती है।

पौधे बढ़ते और विकसित होते हैं। अंततः उनकी प्रौढ़ता फलवती होती है और उन पर फल लगते हैं। यह फल मनुष्यों सहित अन्य प्राणियों के लिए आहार का काम देते हैं, पर जहाँ तक वृक्ष के लिए इन फलों का अपना उपयोग है, वह उनकी बीज सत्ता को अक्षुण्ण रखने, परिपुष्ट बनाने और सुविस्तृत करने के उद्देश्य में ही सन्निहित देखी जा सकती है। वृक्ष मात्र परोपकार के लिए ही नहीं फलते, उनके अपने जीवन की सार्थकता भी फलवान् होने में ही है।

फलों में गूदा भरा होता है और गूदे के भीतर बीज रहते हैं। यह बीज एक जगह इकट्ठे नहीं रहते वरन् दूर-दूर तक फासले

पर रहते हैं। पूरे वृक्ष पर एक ही फल नहीं लगता वरन् उनकी बहुत बड़ी संख्या होती है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था क्यों की ? इस पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्रगति के आधार पर जिस प्रकार मनुष्य के लिए बनाए गए हैं, वैसे ही वृक्षों के लिए भी विनिर्मित किए गए हैं।

गूदे का उद्देश्य है—बीज को पोषण देना, परिपुष्ट करना, प्रौढ़ावस्था तक पहुँचाना। माता के गर्भ में जिस प्रकार भ्रूण पकता, पलता है, उसी प्रकार फल के उदर में गूदे के मध्य बैठा हुआ बीज धीरे-धीरे और समर्थ बनता रहता है। मानव जीवन के अधिकतर क्रिया-कलाप भौतिक उपार्जन के लिए होते हैं। इससे सुविधा सामग्री तो मिलती ही है, साथ ही वे विशेषताएँ, विभूतियाँ भी परिपक्व होती हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक क्षेत्र में सफलताएँ पाई जा सकती हैं, जिन्हें विकसित व्यक्तित्व की परिपुष्ट सत्ता कहते हैं।

एक वृक्ष अनेक फल और प्रत्येक फल में अनेक बीज इसलिए उत्पन्न करता है कि उसकी सत्ता में अधिकाधिक विस्तार करने का अवसर मिले। उसे सीमित दायरे में, संकीर्णता की परिधि में ही आबद्ध रहकर, अविकसित कहलाने का कलंक न सहना पड़े। आत्म विस्तार बिना न तो आत्म-संतोष मिल सकता है और न आत्म-गौरव। जब मनुष्य अपूर्णता से पूर्णता की ओर—क्षुद्रता से महानता की ओर बढ़ने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है तो वृक्ष भी उसी प्रकृति प्रेरणा का अनुसरण क्यों न करें ?

प्रत्येक बीज में एक पूर्ण वृक्ष सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। परिपुष्ट होने के पश्चात् उसका अगला उद्देश्य यह रहता है कि उसी जाति के नये वृक्ष उत्पन्न करें। साथ ही यह भी आवश्यक हो जाता है कि क्षेत्र की दृष्टि से समीपवर्ती सीमा-बंधन को लाँघकर, सुदूर क्षेत्रों तक अपनी सत्ता को सुविस्तृत बनाया जाय। फल के भीतर सारे बीज एक जगह इकट्ठे चिपके नहीं रहते। गूदे के भीतर वे थोड़ा-थोड़ा फासला देकर, अलग-अलग जमे होते हैं। इसका उद्देश्य यह है कि उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से सुदूर क्षेत्र में

जाने का और सुविस्तृत परिधि में विस्तार का अवसर मिले। यदि गूदे में सब बीज इकट्ठे रखे होते तो फल के पककर गिरने पर वे सभी एक जगह ही उगते। फलतः वे सभी एक-दूसरे की खुराक छीनने-फैलने की जगह प्राप्त न कर पाते और ऐसे ही सूख व मुरझाकर समाप्त हो जाते। विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि पुरखों के घर आँगन को छोड़कर अन्यत्र भी जाने और फैलने का प्रयत्न किया जाए।

वृक्ष की सत्ता फलों के माध्यम से यही सब करती रहती है। फलने और पकने के साथ-साथ उनकी वितरण-चेष्टा भी उत्साहपूर्वक चलती है। गूदे में बीजों का स्थान अलग-अलग था भी इसीलिए कि उनके वितरण की व्यवस्था बन सके। आहार में प्रायः गूदा ही काम आता है। बीज कड़े होते हैं इसलिए वे फेंक दिए जाते हैं या संग्रह कर लिए जाते हैं। गूदा समाप्त हो जाने पर भी बीजों का अस्तित्व बना रहता है। यदि उन्हें पीसकर नहीं खाया गया है तो चबाने पर भी उनमें अधिकांश साबुत बच जाते हैं। पेट में भी कम ही पचते हैं। मल मार्ग से निकलकर वे पृथ्वी पर बिखर जाते हैं और इधर-उधर छितराते, धक्के खाते और वृद्धि करते हैं।

मनुष्य जीवन की प्रगति के भी दो आधार हैं—एक भौतिक उपलब्धियों के लिए प्रयत्न करते हुए अपने में गुण, कर्म, स्वाभावपरक बीज सत्ता को परिपुष्ट करना और दूसरा उस पुष्ट सत्ता को सुविस्तृत क्षेत्र में वितरण करके, उन विभूतियों को दूर-दूर तक बिखेरना, विकसित करना। प्रथम चरण को शक्ति संचय कह सकते हैं और दूसरे चरण को सेवा साधना। बल-वृद्धि का, सामर्थ्य संपादन का उद्देश्य यही हो सकता है कि उनके वितरण-विस्तार का लाभ सुदूर क्षेत्रों को मिले। जो लोग शरीर या परिवार के भीतर ही अपनी प्रतिभा का लाभ सीमित किए बैठे रहते हैं, उन्हें गूदे के भीतर ही पहुँचाने वाले बीज की उपमा दी जाती है।

गूदे में पककर विकसित हुए बीज सुदूर क्षेत्रों तक फैलें, इसके लिए प्रकृति ने अनेकों प्रकार की व्यवस्थाएँ की हैं। प्राणियों

द्वारा उनका खाया जाना और मल-विसर्जन के साथ उनका दूर-दूर जा पहुँचना प्रत्यक्ष ही है। कई बीज फेंके या संग्रह करने पर किसी न किसी प्रकार वंश वृद्धि करने का अवसर पाने में सफल हो जाते हैं। बीजों का व्यवसाय भी होता है। अनाज की तरह अन्य बीज भी खरीदे-बेचे जाते हैं और वे यहाँ से वहाँ की यात्रा करते हैं। यह तो प्रचलित व्यवस्था हुई। प्रकृति भी इस दिशा में भारी योगदान करती है और तरह-तरह के ऐसे साधन जुटाती है, जिससे वह उत्पन्न हुई बीज संपदा किसी एक स्थान तक सीमित होकर न रह जाए वरन् उसे सुदूर क्षेत्रों में वितरित होने का अवसर मिले।

हवा असंख्यों बीजों को अपने साथ उड़ाकर एक स्थान से दूसरे स्थानों तक पहुँचाती है। इस स्तर के हलके बीजों की वनस्पति जगत् में कमी नहीं है। 'कुनैन' जिस सिनकोना पौधे से बनती है, उसके बीज इतने हलके होते हैं कि एक औंस में ७० हजार तोले आ सके। आर्किडा के बीज इससे भी हल्के होते हैं। इनकी बनावट भी ऐसी होती है जैसे—पक्षी के परों की। हलकापन और बनावट की विशेषता दोनों के कारण हवा उन्हें आसानी से उड़ा ले जाती है और कहीं से कहीं ले जाकर पटकती है। कुछ बड़े और भारी बीजों में सूर्यमुखी, डोंडिलिओन, सौक्स, बेलकुन, आक, सैंगर, सरकंडा आदि के बीज ऐसे हैं, जो पैराशूट की तरह बने होते हैं; वे हवा का तनिक-सा सहारा पाकर लंबी उड़ान उड़ते हैं। नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। आक के बीज में जो रुई चिपकी होती है, उससे उनका उड़ना कितना सुहावना लगता है ? ब्लड फ्लावर, करची, न्यूमोनशिया, चाटियम जैसे पौधों के बीज भी रोंएदार होते हैं, जिनके कारण उनकी वायु यात्रा बड़ी सरल बन जाती है। अरलू, पराल, जरूल, सहजन, चीड़ के बीजों की बनावट भी पक्षियों के परों जैसी होती है। वे इच्छा से नहीं उड़ पाते, पर हवा उनको उड़ने की सारी व्यवस्था स्वयं जुटा देती है। कुछ तो पूरे फल ही उड़नशील होते हैं, वे अपने बीज परिवार को लेकर क्षेत्र

का प्रयोजन पूरा करने के लिए हवा की सहायता से यात्रा करने पर उतर पड़ते हैं। ऐसे उड़ाक फलों में होलोक, मधुलता, जिमीकंद, फ्रेक्सीना, होपियामेपल डिपटीरोकारपस, साल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से एलेथस की बनावट हवाई जहाज से बिल्कुल मिलती-जुलती है, उसे देखकर यह असमंजस पड़ता है कि इन्हें देखकर हवाई जहाज बने या हवाई जहाज देखकर प्रकृति ने इन्हें बनाया है। आँधियाँ-धूल, तिनके ही नहीं, हल्के बीजों को भी अपने साथ उड़ा ले जाती हैं और कहीं से कहीं उन्हें जा पटकती हैं, जड़ी-बूटियाँ प्रायः इसी प्रकार यहाँ से वहाँ जा पहुँचती हैं।

कुछ फल भी स्वार्थी मनुष्यों की तरह बड़े कृपण होते हैं। वे पके हुए बीजों को भी अपने सूखे खोखले में समेटे बैठे रहते हैं। स्वयं भले ही उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध न हो, पर दूसरों को लाभ न मिलने पाए, ऐसी मनोवृत्ति वाले मनुष्य ही नहीं फल भी दुनिया में मौजूद हैं। लाल-पोस्त, सत्यानाशी, कुत्ताफूल, हंसलता तथा धतूरा इसी प्रकार के फल हैं। हवा जब इन्हें झकझोरती है तो खुद भी उलटने-पुलटने लगते हैं और बीजों को छोड़ने के लिए भी विवश होते हैं। स्वेच्छा से न सही हठात् सही, चलना उन्हें प्रकृति के कानूनों पर ही पड़ता है। संग्रही कोई बनना भी चाहे तो प्रकृति उसे वैसा करने की आज्ञा नहीं दे सकती। जो दिया गया है वह देने के लिए है, जो यह नहीं जानते, उन्हें इन फलों की तरह दुर्गति और बल प्रयोग का सामना करना पड़ता है।

पानी में उगने वाली वनस्पतियों के बीजों को लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती हैं। यह बीज हलके और हवा भरे स्पंज की तरह होते हैं, जिससे वे लहरों पर आसानी से तैरते रह सकें। नदियों और समुद्रों के तटों पर उगे हुए पेड़-पौधे भी अपनी बीज जल को समर्पित करके, उन्हें अन्यत्र चले जाने की खुशी-खुशी छूट देते हैं। मनुष्य ही ऐसा है जो स्वजनों को अन्यत्र उपयोगी स्थानों पर जाने से रोककर, घर की चहार दिवारी में ही बंद रखने के लिए मोहग्रस्त बना रहता है। कमल गट्टे अक्सर

पानी में तैरते हुए ही कहीं से कहीं जा सकते हैं। नारियल के फलों का पानी में गिरना और सहस्त्रों मील जन शून्य द्वीपों में जा उगना इसी प्रकार संभव हुआ है।

कई फल ऐसे हैं जिनके छिलके बहुत कड़े होते हैं। पक जाने और सूख जाने पर भी वे बीजों को बाहर नहीं निकलने देते। इस कठोर नियंत्रण की उग्र प्रतिक्रिया होती है। बीज विद्रोह पर बैठते हैं और उस भीतरी तनाव में छिलका एक विस्फोट की तरह फटता है और बीज उछलकर बाहर निकल जाते हैं। गुलमेंहदी, बुलसेरिल, नाइटजेसमिल, अरण्य, कालमेघ वज्रदंती, फ्लाक्स, कंचनलता आदि फलों में अक्सर फटने और बीज उछलने की प्रक्रिया देखने को मिलती है। प्रहलाद, विभीषण, कैकेयी, बालि आदि को अपने अभिभावकों एवं गुरुजनों के अनुचित प्रतिबंध के विरुद्ध इसी प्रकार विद्रोह करना पड़ा था। अंहकारी दुराग्रह अक्सर ऐसे ही विस्फोट उत्पन्न करते रहते हैं।

कुछ बीज ऐसे होते हैं जो हवा, पानी, मनुष्य आदि की सहायता न पाने पर स्वयं ही अपनी प्रवृत्ति प्रेरणा से आत्म विस्तार का रास्ता अपने बलबूते बनाते हैं और जिसका भी अंचल हाथ लगे उसी को पकड़कर आगे चले जाते हैं। लटजीरा, गोखरू, वनओखरा, चोरकांटा, बुइया, ठीकरी, चित्रक आदि के फल अथवा बीज अपने काँटों के साथ पशु-पक्षियों के शरीरों एवं मनुष्यों के कपड़ों को पकड़ लेते हैं और उन पर सवारी गाँठकर कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं।

चींटियों, चूहे, गिलहरी आदि संग्रही प्रकृति के प्राणी बीजों को इकट्ठा करते हैं। बिलों में से छितराकर वे फिर जहाँ-तहाँ जा पहुँचते हैं। पक्षियों के पैरों में चिपकी मिट्टी के साथ अथवा उनकी बीट के माध्यम से भी अनेक वनस्पतियाँ तथा वृक्ष लंबी यात्राएँ करते हुए पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक जा पहुँचते हैं।

वनस्पतियों और वृक्षों की यह आत्म-विस्तार की अपनी उपलब्धियों की सुदूर क्षेत्र में वितरण करने की प्रवृत्ति ठीक उसी

वनस्पतियों और वृक्षों की यह आत्म-विस्तार की अपनी उपलब्धियों की सुदूर क्षेत्र में वितरण करने की प्रवृत्ति ठीक उसी प्रकार पाई जाती है जैसी कि प्रकृति-प्रेरणा मनुष्य को उपलब्ध है। जो जीवन विद्या का मर्म जानते हैं, वे अपनी आंतरिक विशेषताओं को बीज सत्ता की तरह परिपक्व करने के लिए अपनी हलचलों का गूदा संजोएँ, साथ यह भी ध्यान रखें कि समस्त उपार्जन वितरण के लिए है, ताकि संसार की शोभा-सुषमा का विस्तार होता रहे, उसमें कमी न आने पाये।

इस प्रकृति-प्रेरणा को ही ईश्वरीय विधान, उसकी विधि-व्यवस्था धर्म या अध्यात्म कहा जा सकता है। जो जिस सीमा तक इन प्रेरणाओं को हृदयंगम करने में सफल होते हैं, उन्हें स्वयं संपन्न होती रहने वाली त्याग-प्रक्रिया के अनुसार उसका लाभ सत्परिणाम के रूप में प्राप्त होता रहता है। इसी आधार पर कर्मफल की दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। अच्छे कार्यों का, परमार्थिक प्रयासों का परिणाम सुखद आनंदायक होता है, तो बुरे कार्यों, संकीर्ण भावनाओं से प्रेरित प्रयासों का परिणाम भी दुःखद व क्लेशदायी ही होता है। व्यक्तिवाद की संकीर्ण स्वार्थपरता को निरस्त करके लोकहित की, जनकल्याण की सत्प्रवृत्तियों में अपनी विभूतियों को समर्पित करने की जीवन पद्धति का नाम ही मानवी संस्कृति है। इसके साथ यह भी समझने और विचार करने योग्य है कि परमात्मा की यह कारुणिक विधि-व्यवस्था सृष्टि के सभी प्राणियों में लिए मंगलमय है। उससे लाभ उठाया जा सकता है, उठाया जाना चाहिए।

❐ ❐

मनुष्य से कम नहीं मनुष्येत्तर प्राणी

पक्षी देखने में तुच्छ लगते हैं। मनुष्य की तुलना में उन्हें बुद्धि नहीं मिली और न उतनी विकसित इंद्रियाँ ही। फिर भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि भगवान् ने उनकी उपेक्षा ही की है। बारीकी से देखने पर प्रतीत होता है कि उनमें ऐसी कितनी ही विशेषताएँ हैं, जिनमें मनुष्य काफी पिछड़ा हुआ है। यदि वे क्षमताएँ मनुष्य को मिली होतीं, जो तुच्छ समझे जाने वाले पक्षियों को प्राप्त हैं, तो वह तथाकथित देवताओं के वैभव से कहीं अधिक ऊँची स्थिति में रहा होता।

भगवान् को अपनी पक्षी संतानें प्यारी हैं। उन्होंने किसी को कोई खिलौना खेलने के लिए दिया है तो किसी को कोई। इस सृष्टि में न तो कोई सर्वथा साधनविहीन है और न सर्व संपन्न। हर प्राणी को उसकी आवश्यकता के अनुरूप इतने और ऐसे साधन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं, जिनसे वह अपनी जीवनचर्या संतोष और प्रसन्नता के साथ चला सकें। पक्षियों की दुनिया पर नजर डालते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि वे भी भगवान् के कृपापात्र हैं और अपनी आवश्यकता के अनुरूप उतने साधन संपन्न हैं कि किन्हीं-किन्हीं उपलब्धियों में मनुष्य को छोटा और पिछड़ा हुआ सिद्ध कर सकें।

गरुड़ की चाल साधारणतया ६५ से ११० मील प्रति घंटे होती है। पर जब वह शिकार पर झपटता है तो वह चाल २०० मील की हो जाती है। यों गरुड़ का वजन ५ से १० किलो तक का होता है, पर वह अपने से ड्यौढ़े वजन का शिकार को पंजों में दबाकर घोंसले की ओर लंबी उड़ान उड़ता जाता है। गरुड़ की तीव्र दृष्टि अपनी जाति के पक्षियों में सबसे आगे होती है।

शुतुरमुर्ग अब सिर्फ अफ्रीका में ही पाया जाता है। ऊँचाई प्रायः ६ फुट, वजन ३०० पौंड, रफ्तार ४० मील। वह १५-१५ फुट

की ऐसी छलाँगें लगाता है कि घुड़सवारों को भी हार माननी पड़े। इसकी लात से घोड़े की टाँग टूट सकती है। इसे पालतू भी बनाया जाता है। अफ्रीका में इसकी दोस्ती जंगली गधे, जेबरे के साथ रहती है। दोनों एक-दूसरे को प्यार करते हैं और विपत्ति के समय एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं। उन्हें साथ-साथ घूमते और सोते देखा जा सकता है। ध्रुव प्रदेशों में पाया जाने वाला ६ फुट ऊँचा २०० पौंड भारी पेंग्विन, मनुष्य की तरह खड़ा होकर दो पैरों से चलता है। समुद्र जल में तैरने और शीत सहन करने की उसकी अपनी विशेषता है। तेज ठंड के दिनों में वह ३-४ महीने बिना खाये ही गुजर कर लेता है। बर्फ पर फिसलने का खेल इसे बहुत भाता है। इस जाति के सभी पक्षी प्रायः पति-पत्नी का जोड़ा बनाकर रहते हैं। नर को विशेषतः घर की जिम्मेदारी संभालनी पड़ती है।

केकड़ा कभी-कभी भारी शंखों के खोल में घुस जाता है और उनके वजन को ढोता हुआ समुद्र में इधर-उधर यात्रा करता है। हर वर्ष यह दस मील की यात्रा कर लेता है और अपने वजन से दस-बारह गुने तक वजन ढो लेता है। कुछ कीड़े तथा पौधे भी इस शंख-कलेवरों पर जा बैठते हैं और केकड़े पर लदा वजन बढ़ता ही जाता है। मजा तो यह है कि इतने लदान से लदा हुआ केकड़ा समुद्र तट के पेड़ों पर चढ़कर घोंसलों से चिड़ियों के अंडे चुराने में भी नहीं चूकता।

वृक्षों पर रहने वाला आस्ट्रेलिया का टेडीवियर अपनी पीठ पर आधे दर्जन तक बच्चे लादे फिरता है और चढ़ने-उतरने में ऐसी सावधानी बरतता है कि कोई बच्चा गिरने न पाए।

अमेरिका के ओपासय चूहों के ८-१० बच्चे अपनी माँ के पीठ पर लदे फिरते हैं। यह बच्चे इतने चतुर होते हैं कि अपनी पूँछ माता की पूँछ से लपेटकर, जंजीर-सी बना लेते हैं और गिरने के खतरे से बचकर सवारी का आनंद लेते हैं।

शरीर के अनुपात में संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली चिड़िया 'हमिंग बर्ड' मेक्सिको खाड़ी और पनामा नहर के तटों पर पाई

जाती है। इसकी जिजीविषा देखते ही बनती है। शरीर की लंबाई ३ इंच किंतु चोंच ५ इंच की। यह इतनी पेटू होती हैं कि निरंतर खाते रहते बिना उसे चैन नहीं पड़ता। अपने शरीर के वजन से वह तीन गुना आहार एक दिन में करती है। इस आहार को जुटाने में इसे अत्यंत व्यस्त और सक्रिय रहना पड़ता है। इसी अनुपात से यदि मनुष्य को तत्पर रहना पड़े तो उस सामान्य शक्ति व्यय की अपेक्षा ४०० गुनी शक्ति खर्च करनी पड़े। एक साथ बहुत-सा आहार पकड़कर निगल सके, इसी सुविधा के लिए प्रकृति ने उसे इतनी लंबी चोंच दी है।

'हमिंग वर्ड' जब सोती है तब उसकी नींद इतनी गहरी होती है कि कोई चाहे तो ढेले की तरह उसे उठाले। शरीर मुर्दे जैसा निचेष्ट हो जाता है। करवट तो वह बदलती ही नहीं।

हैलीकॉप्टर सिद्धांत पर उसके पंख अन्य चिड़ियों की अपेक्षा कुछ अलग ही ढंग के बने हैं। वह आगे-पीछे, तिरछी जमीन से सीधी आकाश को, आकाश से सीधी जमीन पर उड़ सकती है और हवा में स्थिर भी रह सकती है। फूलों की डालियों पेड़ों की शाखाओं पर जब वह आहार ले रही होती है, तब भी बैठती नहीं वरन् उड़ती ही रहती है। उस समय भी उसके पंख एक सेकंड में ५ बार की आश्चर्यजनक गति से हरकत कर रहे होते हैं। इसके कारण एक फुट इर्द-गिर्द तक की पत्तियाँ हवा के तेज झोंके के समय जैसी हिलती रहती हैं और तेजी से उड़ते समय इसके पर एक सेकंड पीछे २०० बार हिलते हैं। प्रणय-क्रीड़ा भी वह उड़ते-उड़ते घड़ी के पेंडुलम की तरह आगे-पीछे हिलते हुए पूरी कर लेती हैं। अंडे देते समय घोंसला पेड़ की छाल और कपास के धागे से एक सुंदर और मजबूत बनाती है कि देखने वाले उसे पेड़ की एक गाँठ ही समझ सकते हैं। यह लड़ाकू भी कम नहीं होती। नरहमिंग बर्ड जब आपस में लड़ते हैं तो उनकी तलवार जैसी चोंच प्रतिद्वंद्वी का सफाया कर देती है। मादा को जब किसी शिकारी पक्षी से खतरा होता है तो अपनी छुरे जैसी चोंच से निर्भय आक्रमण

करती हैं और बड़ी आकृति वाले बाज, कौऐ, गिद्ध भी उसकी मार से घबराकर, सिर पर पाँव रखकर भागते हैं। लंबी उड़ान में उसकी अपनी शान है। बिना खाए और ठहरे, वह लगातार १२ घंटे उड़कर ६०० मील की यात्रा कर सकती है।

भवन निर्माण और कपड़ा बुनने, टोकरी बनाने जैसे अनेक कला-शिल्पों का सम्मिश्रण करने से ही घोंसला बनाने की विद्या बनी मालूम होती है। बिना किसी कालेज में सैद्धांतिक और कारखाने में व्यावहारिक शिक्षा पाए अधिकांश पक्षी जन्मजात रूप से इस विद्या को जानते हैं। यों ऋतु प्रभाव से बचने और अंडे-बच्चों की सुरक्षा-व्यवस्था के उपयुक्त सभी पक्षी घोंसले बनाते हैं, पर उनमें से कुछ की प्रवीणता तो देखते ही बनती है।

वया का लटकता हुआ घोंसला हर किसी को आश्चर्य में डाल देता है, वह कितनी सुंदरता और सुघड़ता के साथ बनाया गया है, इसे देखकर उसके निर्माता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। दक्षिण अफ्रीका की वया ने तो एक कदम और भी आगे बढ़ाया है, वह घोंसले के तिनकों को न केवल मजबूती से सटाती है वरन् बालों का फंदा लगाकर, इस तरह कस देती है कि फिर आँधी तूफान उसका कुछ भी बिगाड़ न सकें। यों इस तकनीक में वह भेड़ों की ऊन भी काम में लाती हैं पर अधिकतर प्रयोग वे अधिक लंबे और मजबूत बालों का ही करती है। इस दृष्टि से घोड़े और गधे की पूँछ के बाल उसे अधिक उपयुक्त लगते हैं, कभी-कभी तो हाथी और सूअर के बाल भी उसमें कसे होते हैं। इन जानवरों की पूँछ पर बैठकर बाल उखाड़ना भी तो अपने ढंग का एक अलग ही कौशल है। तिनकों के बीच बालों का जो फंदा लगाता है, उसे देखते हुए स्काउटिंग में तरह-तरह की गाँठें लगाने की शिक्षा दी जाती है। स्वेटर आदि बुनने में लड़कियाँ जो हस्त लाघव बरतती हैं वह सभी पीछे पड़ जाता है।

परिपक्व पक्षियों की बात तो दूर, अंडे में रहने वाले अविकसित पक्षी भी जब समर्थता के निकट पहुँचते हैं तो अपने

पुरुषार्थ से अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते हैं और उन्मुक्त जगत् के स्वच्छंद वातावरण में प्रवेश करते हैं।

जब अंडा पक जाता है और फूटकर बच्चा निकलने का समय समीप होता है तो उसमें थरथराहट होती है। छूकर या कान लगाकर यह देखा-समझा जा सकता है कि उसके भीतर खिचड़ी-सी पक रही है। यह सब कुछ क्या है ? यह बच्चे द्वारा अंडा तोड़कर बाहर निकलने के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। चूजा अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनरूप पूरा-पूरा प्रयत्न करता है कि उसे बंधन से मुक्ति मिले और स्वतंत्र जीवनयापन कर सकने का अवसर उपलब्ध हो। इसके लिए वह अंडे की दीवार से पूरी तरह टकराता है और उस संघर्ष को तब तक जारी रखता है, जब तक कि ऊपर का मजबूत खोल टूटकर बिखर नहीं जाता।

कई बार यह पक्षी मनुष्यों को चुनौती देने खड़े हो जाते हैं तो उनका होश-हवाश गुम कर देते हैं।

पक्षियों में से कितनों में ही बुद्धिमत्ता ही नहीं उनकी स्नेहिल सद्भावना भी देखते ही बनती है। उनमें वह मृदुल सौजन्य पाया जाता है, जिसे अभी बहुत दिन तक मनुष्य को सीखना होगा।

कबूतर, पंडुक, सारस आदि पक्षी पतिव्रत और पत्नीव्रत पालन करते हैं, वे एक प्रेम संबंध स्थापित कर लेने के बाद उसे वफादारी के साथ आजीवन निबाहते हैं।

टिटहरी समुद्र के निर्जन तटों पर अंडे देती है, वे मिलजुल कर अंडे सेती हैं। अपने विराने का भेदभाव किए बिना सेती हैं। कोई मादा चारे की तलाश में उड़ जाए तो कोई दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार मिलजुल कर अंडे-बच्चों की साज संभाल में उन्हें बहुत सुविधा रहती है।

घोंसला बनाने, अंडे सेने से लेकर बच्चों के पालन-पोषण तक का सारा काम नर-मादा मिलजुल कर पूरा करते हैं। प्रणय की परिणति, दांपत्य सहयोग और शिशु पालन में भागीदार रहने तक

के उत्तरदायित्व को नर भली प्रकार समझता है और उसी प्रकार निबाहता भी है। बच्चे पानी में तैरने से डरते हैं—इस भय से छुटकारा दिलाने के लिये पेंग्विइन उन्हें बलपूर्वक पानी में धकेलती हैं और तैरने की कला सिखाती हैं। प्रायः दो-तीन महीने में बच्चे तैरने की ट्रेनिंग पूरी कर पाते हैं।

गरुड़-शावक भारी होता है, इसलिए उसे घोंसले से नीचे उतरने और उड़ने का साहस करने से डर लगता है। माता उसे खतरे का सामना करने की शिक्षा देती है और धकेलकर घोंसले से नीचे गिरा देती है। साथ ही साथ यह ध्यान भी रखती है कि कहीं विपत्ति में न फँस जाए। इसलिए नीचे गिरकर जमीन से टकराने से पूर्व ही वह उसे पीठ पर ले लेती है और उड़कर उसे फिर घोंसले में ले आती है। यह शिक्षण क्रम तब तक चलता ही रहता है, जब तक बच्चा स्वावलंबी होकर स्वतंत्र रूप से उड़ना नहीं सीख जाता। शिकार पकड़ने के लिए मादा को ही शिक्षा देनी पड़ती है। घायल शिकार को वह बच्चों से कुछ दूर छोड़ देती है और फिर अलग बैठकर बच्चों को आखेट कौशल विकसित करने का अवसर देती है।

कर्तव्य, उत्तरदायित्व, सहयोग और सद्भाव की दृष्टि से भी पक्षियों की दुनिया मनुष्य से पीछे नहीं है, उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार ऐसी समर्थता तो उपलब्ध ही है, जिसके लिए मनुष्य उनसे ईर्ष्या ही करता है।

● गरब न कीजौ कोय

घर की दादी और पिता-दादा का काम छोटे बच्चों को खिलाना होता है। इस बँटवारे का कारण उनकी बेकारी नहीं, वात्सल्य भाव की प्रबलता मानी जाती है। अपने बच्चे बहुत प्यारे लगते हैं। पर बच्चे का बच्चा तो और भी प्रियतर होता है। यदि यह बात मनुष्य जाति की एक विशेषता है तो जंगल में पाए जाने वाले

खरगोश को भी मनुष्य से कम नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि वह भी अपने बच्चों को मनुष्य से अधिक ही प्यार करता है।

प्रसिद्ध जीव-विशेषज्ञ डॉ० डी० टरिच डी० विकेल ने लंबे समय तक खरगोशों के सामाजिक जीवन का अध्ययन किया और लिखा है कि खरगोशों में बहुत अधिक मानवीय गुण होते हैं, उनमें कुछ तो थोड़ी-सी बात पर नाराज हो जाने वाले दंभी प्रकृति के होते हैं तो कुछ शांत और सहनशील। उनमें परस्पर मैत्री का आधार गुणों की समानता होती है और इसका परिचय वे कुछ ही समय साथ-साथ रहने में पा लेते हैं। बूढ़े खरगोश को बड़े प्यार से रखते हैं, उनकी देखभाल से लेकर खेल में प्रशिक्षित करने की जिम्मेदारी भी उन्हीं की है। खेलना खरगोशों के लिए अनिवार्य होता है। वे कई बार खेलते समय इतने मस्त हो जाते हैं कि लोमड़ियों को भी सजातीय खरगोश मानकर, उन्हीं के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। संभवतः उनकी इसी प्रकृति का वरदान उन्हें आजीवन आरोग्य के रूप में मिला है। खरगोशों के इस नैसर्गिक गुण से मनुष्य जाति भी शिक्षा ले सकती है क्रियाशील और क्रीड़ाशील जीवन की। आज जो धन रोगों की रोकथाम चिकित्सा में फूँका जा रहा है, उसका आधा भाग भी देश में गाँव-गाँव खेल की अनिवार्य व्यवस्था में लगा दिया जाता तो वह सौ अस्पतालों से बढ़कर काम करता।

मनुष्य को अपनी बुद्धिमत्ता का बड़ा अहंकार है, पर सच बात यह है कि उसने इसी अहंकारवश अपने को अप्राकृतिक बनाया और रोग-शोक में जकड़ता चला आया। स्वस्थ और संतुलित जीवन की शिक्षाएँ वह आज भी प्रकृति से, अपने इन छोटे-छोटे जीवधारियों से प्राप्त कर सकता है। कौवे जैसे उपेक्षित पक्षी में भी जातीय हित और स्वाधीनता के भाव पाए जाते हैं। एक बार उसके स्वभाव का विस्तृत अध्ययन करने के लिये मैडम जीन जार्ज और उनके पति डॉ० जान ने एक कौवे का अंडा सेया। कौवों की साहसिकता और निर्भय आक्रमण के फलस्वरूप सामान्यतः

उसका बच्चा पकड़ में नहीं आता, इसीलिये ऐसा करना पड़ा। अंडे से बच्चा निकला। बच्चा बड़ा हुआ। मानवीय संसर्ग पाकर उसे मनुष्य से स्नेह हो गया। यह बात अलग है, पर यह बात अन्य कौवों को कदापि पसंद न आई और अध्ययन करने से पता चलता था कि वह कौवे का बच्चा भी अपनी भूल स्वीकारता है निश्चित। वह खिड़की के समीप बैठा रहता, अपने मालिक के साथ खेलता भी, पर जब तक विशेष प्रकार की ध्वनि से अन्य कौवे उसे धिक्कारते और उसे अपनी भाषा में मनुष्य जाति की बुराइयों से सावधान कर उसे भागने का संकेत करते तो वह बच्चा मालिक की भी परवाह न करके उड़ जाता। अपने भाइयों के साथ देर तक खेलता रहता, पर जिस तरह पाप, अन्याय और हीन भावनाओं के कारण एक मनुष्य अन्य मनुष्यों से मेल-जोल रखने में आत्महीनता अनुभव करता है, उसी प्रकार यह कौवा भी उन्मुक्त प्रकृति में जन्मे अपनी जाति भाइयों के बीच कुछ छोटापन-सा अनुभव करता, इसलिये वह बार-बार लौटकर घर आ जाता।

कौवा बड़ा बुद्धिमान पक्षी है। मनुष्य समझता है बुद्धि मेरी विरासत है, पर सच बात यह है कि अपने सीमित क्षेत्र और क्षमताओं में ही सृष्टि के अन्यान्य जीवों में भी विलक्षण बौद्धिक और आत्मिक क्षमताएँ होती हैं। जब सब कौवे उपाय कर हार गए, तब उनके एक मुखिया ने एक चाल चली। उन्होंने एक भोज आयोजित किया और ठीक ऐसे स्थान पर जहाँ से उस पालतू कौवे को उनकी हरकतें दिखाई देती रहीं। कौवे को ललचाकर अपने पास बुलाने का यह उपाय कितना बुद्धि प्रेरित हो सकता है ? इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इस प्रकार वे इस पराधीन कौवे को भी बंधन मुक्त करने में सफल हो गए।

कौवों की ही जाति का रैवेन (एक प्रकार का काला कौवा) की बुद्धिमता और सामाजिकता को देखकर तो यही लगता है कि इस जन्म के कुछ मनुष्य ही अपनी किन्हीं बुराइयों के कारण इस

योनि में जाने को विवश होते हैं, क्योंकि उसमें और मनुष्यों के रहन-सहन, विचार-व्यवहार में असाधारण समानताएँ पाई जाती हैं।

भारतवर्ष, साइबेरिया, ग्रीनलैंड, अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका तथा योरोप में पाए जाने वाले इस २ फुट की लंबाई वाले पक्षी की विलक्षणताएँ जितनी अध्ययन की गई नई विलक्षणताओं के अन्यान्य रहस्य उतने ही गंभीर होते जा रहे हैं। बहुत संभव है कि एक दिन वह आए, जबकि दुनिया में पुनर्जन्म सिद्धांत को सार्वभौमिक मान्यता मिल जाए, विज्ञान उसकी पुष्टि कर दे और फिर नई खोजें हों तो पता चले कि यह रैवेन नटों की जाति के मनुष्य हैं, जो मरने के बाद अपने स्वभाव और संस्कारवश इस कौवे की योनि में आ पड़ते हैं।

जर्मनी के 'मैक्सप्लोक इन्स्टीट्यूट फार दि फिजियोलॉजी आफ बिहैवियर इन सी विजन' स्थान में जो कि जीव-जंतुओं की प्रकृति के अध्ययन का बहुत ही उपयुक्त स्थान, जर्मन वैज्ञानिक डॉ० एवरहार्ड ग्विनर ने 'रैवेन' पक्षी का विस्तृत अध्ययन किया और यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि उसके रक्त में ऐसे लक्षण (ट्रेट्स) पाए जाते हैं, जो मनुष्यों से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं। इनके स्वभाव की विचित्रताएँ, नट जाति की मानवीय विशेषताओं से ओत-प्रोत होती हैं।

विवाह से पूर्व नर और मादा रैवेन एक वर्ष लगातार साथ-साथ रहते हैं। मादा अपने लिए ऐसे नर का चुनाव करती है, जिसमें नेतृत्व के गुण हों, जो साहसी हों, निर्भय हो, आलसी, दुर्बल, मूर्ख आदमियों की कौन पूछे करे ? प्रकृति उद्योगी, साहसी और हिम्मत वालों का वरण करती है, मादा रैवेन इस मामले में पूरी छान-बीन करके, अपना फैसला देती है। आजकल का युवक समुदाय बड़ा चालाक हो गया है, वह यह समझते हैं कि नारी में बुद्धि नहीं होती, उसे गुणी होने का धोखा देकर फुसलाया जा सकता है, मूर्ख लड़कियाँ युवकों की इस धोखेबाजी में आ सकती हैं, पर रैवेन मादा जानती है कि एकाएक विश्वास करना धोखा हो

सकता है, इसलिये वह एक वर्ष तक नर के साथ रहकर, उसका समीप से अध्ययन करती है। वह नर की कामुकता को अच्छी तरह पहचानती हैं इसलिए एक वर्षीय परीक्षणकाल में उसकी इस दुर्बलता को धमकाकर रखती है। यदि वह देखती है कि नर में नरोचित गुणों का अभाव है तो वह उसे छोड़कर किसी अन्य का वरण करती है। दहेज और कृत्रिम गुणों पर जिस तरह लड़कियाँ ठग ली जाती हैं, वैसे ही रैवेन को ठगा जाना नितांत असंभव होता है।

बेशक परीक्षणकाल में भी वे एक-दूसरे के सहायक होने का प्रमाण दे सकते हैं। कई बार नर और मादा भूल-भटक जाते हैं। इन परिस्थितियों के लिए वे पहले से ही कुछ खास ध्वनियाँ निर्धारित कर लेते हैं, जो उनकी जाति के किसी भी अन्य रैवेन को मालूम नहीं होती। उन्हीं के सहारे वे एक-दूसरे को ढूँढ़ लेते हैं। एक बार परीक्षण के दौरान डॉ० ग्विनर एक कुत्ते की आवाज सुनकर चौंके उन्होंने देखा पास में कोई कुत्ता नहीं है, फिर भौंकने की आवाज कहाँ से आ रही है ? थोड़ी देर में पता चल गया कि एक रैवेन जिसका कि 'सगाई काल' चल रहा था। संकेत देकर अपने बिछड़े मंगेतर को बुला रहा था। थोड़ी देर में दोनों फिर मिल गए।

विवाह के बाद भी मादा दांपत्य अधिकार और स्वाभिमान के भाव को सुरक्षित रखती है। नारी होने के कारण अपना वर्चस्व खो दिया जाए, यह बात कोई महिला स्वीकार भले ही कर ले परंतु रैवेन को स्वीकार नहीं। संबंध निश्चित कर लेने के बाद वह अपने रहने के उपयुक्त स्थान ढूँढ़ती है। नर मकान बनाता है, यदि इस बीच मादा को वहाँ की परिस्थितियाँ अनुकूल न जान पड़ीं तो वह अन्य स्थान ढूँढ़ेगी। कई बार इस खोज में नर को कई अधूरे बने मकान छोड़कर बार-बार नये मकान बनाने पड़ते हैं। यह मादा की इच्छा पर है कि वह इनमें से किसी भी स्थान को चुने और उसमें रहने का अंतिम फैसला करे।

ग्विनर लिखते हैं कि पति-पत्नी के संबंध कैसे हैं ? पारिवारिक जीवन में प्रेम, शांति, सुख और सुव्यवस्था है या नहीं ? इस बात का पता लगाना हो तो घर की, बच्चों की स्थिति देखकर लगाया जा सकता है। जिन घरों में प्रेम, मैत्री एवं सद्भाव होता है, वे घर साफ-सुथरे सजे हुए। उसके बच्चे और सदस्य हँसते-खेलते हुए होते हैं। यही बात रैवेन के बारे में भी है, उसका घोंसला देखकर बताया जा सकता है कि उनके पारिवारिक जीवन में प्रेम और सौहार्द्र है अथवा नहीं।

पति रैवेन अपनी मादा के प्रति समर्पित और 'एक नारीव्रत' का पालन करके मनुष्य जाति को शिक्षा देता है और एक प्रकार से उसकी कामुकता को धिक्कार कर कर्तव्य भाव की प्रेरणा देता है। अंडे सेने के लिए १८-१६ दिन तक मादा लगातार घोंसले में बैठी रहती है, उस अवधि में दाना लाकर पत्नी की चोंच में डालकर खिलाने का काम नर बड़ी भावना के साथ पूरा करता है। एक डच जूलॉजिस्ट ने लिखा है कि एक बार अंडा सेने की अवधि में एक मादा रैवेन मर गई, उस समय पति ने लगातार भूखे रहकर, संतति पालन का बोझ उठाया और बच्चों को सेकर बड़ा करने से लेकर उन्हें उड़ना सिखाने तक का सारा उत्तरदायित्व अकेले निभाया।

खेलना इनमें अनिवार्य होता है। अपने गाँवों में पहले पहलवानों के गुरु हुआ करते थे। गाँव के बच्चों के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी उन्हीं पर होती थी। वे सबेरे-शाम उन्हें अखाड़े पर ले जाकर उन्हें दाँव-पेंच, मल्ल-विद्या और अस्त्र-संचालन सिखाकर शक्तिशाली, स्वस्थ और समर्थ बनाते थे। अपने देश में जब से यह प्रथा टूट चली स्वास्थ्य और समर्थता का स्थान रोग-शोक, बीमारी और निर्बलता ने ले लिया, पर इन पक्षियों में यह अनुकरणीय परंपरा इस कलियुग में भी दृढ़तापूर्वक चल रही है और वह इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य मानवोचित गुणों से गिरकर चाहे किसी युग को सतयुग बना लें या कलियुग, जीव-जंतु अपने

प्राकृतिक-संतुलन को कभी नहीं खोते इसीलिये वे चिरंतन काल से अपने अस्तित्व को बचाते चले आ रहे हैं।

हर रैवेन-उपनिवेश में कुछ रिंगलीडर होते हैं, उनका काम होता है बच्चों को खेल-रत रखना। कोई आलसी बच्चा होगा तो उसे चोंच मारकर, खेलने को विवश करेंगे। इनके खेल पूरी नट-विद्या होते हैं, उसमें इनको इतना अधिक परिश्रम करना पड़ता है कि शरीर का सारा विजातीय द्रव्य निकल जाता है। इसके नेता इन्साफ पसंद और नैतिक गुणों वाले होते हैं। एक-दूसरे के प्रति सहयोग का भाव रखते हैं। उन्हें देखकर तो ऐसा लगता है आज के मनुष्य ने बुद्धिमान न होकर, इन्हीं के गुणों को धारण कर लिया होता तो वह कहीं अधिक स्वस्थ, सुखी और समुन्नत हो सकता था।

● कर्तव्य परायण जीव-जंतु

अफ्रीका के घने जंगलों में एक पौधा पाया जाता है, जिससे अनेक जीव-जंतुओं को खाद्य मिलता है। यह पौधा जमीन के अंदर से उग तो आता है किंतु धरती से ऊपर आते ही किसी अज्ञात आवश्यकता-आकांक्षा के कारण पौधा आगे बढ़ने से इनकार कर देता है। पौधे का विकास रुके इसके पूर्व ही गिलहरी कहीं से कुछ बीज इकट्ठा करती है और उस पौधे की जड़ के पास गड्ढा खोदकर उन्हें गाड़ आती है, जिस प्रकार समुचित शिक्षा और संस्कार पाने से छोटे-छोटे बच्चों का बौद्धिक और आत्मिक विकास होने लगता है, उसी प्रकार यह बीज उस पौधे के लिए खाद, पानी हो जाते हैं और वह पूरे उत्साह के साथ बढ़ने, फलने-फूलने लगता है। गिलहरी जब तक अपना पार्ट अदा नहीं करती, तब तक पौधा सूखा-सा प्रेम के अभाव में अविकसित मनुष्य जीवन की तरह ठूँठ खड़ा रहता है।

ईल चिड़ियाँ भोजन और भ्रमण के लिए हजारों मील दूर चली जाती है, पर अंडा देना होता है, तब वह अपने जन्म स्थान

पर लौट आती है। चिड़िया का मरणकाल आ जाता है, तब वह चाहे जहाँ भी हो जन्म स्थान को लौट पड़ेगी, मृत्यु के लिए वह हर स्थिति में अपने घर ही पहुँचेगी। सालमन पक्षी भी जीवन भर कहीं रहे, मृत्यु के समय वह वहीं पहुँचता है, जहाँ उसका जन्म होता है, मानो वह सारे जीवन यह याद रखता हो कि किन परिस्थितियों के कारण उसे इस योनि में जन्म लेना पड़ा और जन्म लेने के बाद फिर न वैसा निकृष्ट जीवन मिले वह अपने मूल स्थान पर लौटकर जीवन दशा बदल देता है।

मुर्गी बच्चा देती है, १५ मिनट होने के बाद बच्चा अपने दाने चारे के लिये चल देता है और कोई खतरा देखता है तो अपने आप ही खतरे की सूचक-ध्वनि निकालने लगता है, जबकि उससे पहले वह ध्वनि न अपनी माता से सुनी होती है न पिता से न बंधुबांधवों से। बर्र के बच्चे छोटे होते हैं और उसका मरणकाल आ धमकता है। घर में छोटे-छोटे बच्चे जो अपना खाद्य नहीं जुटा सकते, उनकी रक्षा का कर्तव्यभाव अलग सताता है, तब बर्र आँखफुट्टे (ग्रासहापर्स) को पकड़कर, टुकड़े-टुकड़े करके रख देती है, स्वयं मरने के लिए चल देती है। पीछे बच्चे माँस खा-खाकर बड़े हो जाते हैं।

गिलहरी का बीज छुपाना, सालमन और ईल पक्षियों द्वारा अपनी मृत्यु के समय हजारों मील दूर से घर लौट आना, चूजे का वंश परिपाटी के आधार पर बिना शिक्षक ज्ञान और मरते दम तक छोटी-सी बर्र में कर्तव्यपालन की भावना। प्रश्न उठता है कि जीवों में इस तरह की गणितीय बुद्धि का रहस्य क्या है ? आज का बुद्धिवादी व्यक्ति, आज का जीवशास्त्री उत्तर देगा—यह सब प्रकृति की प्रेरणा से होता रहता है ?

❐ ❐

प्रकृति प्रेरणाओं का अनुगमन

जब पृथ्वी के अन्य जीव-जंतुओं से हम मनुष्यों की तुलना करते हैं, तो स्पष्ट जान पड़ता है कि ज्ञान-विज्ञान का अहंकार रखने वाला मनुष्य अभी अपने सामाजिक संगठन और व्यवहार में उस स्तर तक भी नहीं पहुँचा है, जहाँ तक कि कितने ही छोटे जीव-जंतु, कीड़े-मकोड़े लाखों वर्ष पहले पहुँच चुके हैं। चींटियों, मधु-मक्खियों, दीमकों, बर्रों का आंतरिक संगठन, अनुशासनप्रियता और नागरिकता की भावना मनुष्यों की अपेक्षा बहुत उच्चकोटि की होती है और उसी के आधार पर वे इतने लंबे काल से अपनी रक्षा करते हैं।

अभी तक प्राणी-शास्त्र की खोजों से जहाँ तक जाना जा सका है, मनुष्य की उत्पत्ति को दस लाख वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ। जैसी स्थिति में आजकल घोर जंगली मनुष्य रहते हैं, उसको प्राप्त किए हुए तो लाख-दो-लाख वर्ष का समय ही गुजरा होगा।

इसके विपरीत चींटी और मधु-मक्खी आदि के विषय में बहुत जाँच-पड़ताल करके जगत् प्रसिद्ध वैज्ञानिक जूलियस हक्सले और व्हीलर आदि ने यह निर्णय किया है कि उनका विकास २५ लाख वर्ष पूर्व हो चुका था और तब से उनमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इनके संगठन का वर्णन करते हुए एक विद्वान् डॉ० स्टाकर्ड हेथम ने लिखा है—

"समस्त सामाजिक कीड़ों में चींटियाँ सबसे अधिक सफल और कदाचित् सबसे ज्यादा विचित्र हैं। उनकी समस्त जातियों की संख्या लगभग तीन हजार है। कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं, जिनके बिलों में रहने वाले कुल जीवों की संख्या एक-सौ के आस-पास ही होती है और किसी-किसी जाति के बिल में पाँच लाख तक प्राणी रहते हैं। अंडा देने वाली थोड़ी-सी 'रानियों' को छोड़कर, सभी कोई चींटी बहुत बड़ी नहीं होती। सबसे बड़ी 'नपुंसक' चींटी की तोल भी

कभी एक ग्राम (तीस रत्ती) से अधिक नहीं होती। दूसरे शब्दों में एक मामूली आदमी के वजन के बराबर होने के लिए एक लाख से अधिक चींटियाँ तराजू के पल्ले में चढ़ानी पड़ेंगी। यह तो सबसे बड़ी चींटी की बात हुई, जिनको आहार ढोने और शत्रुओं से युद्ध करने के लिए अपने शरीर को विशेष रूप से बड़ा और मजबूत बनाना पड़ता है। छोटी चींटियाँ तो इससे बहुत हल्की होती हैं।"

इन चींटियों में जो अनेक रहस्यपूर्ण प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्व की बात उनकी भोजन-व्यवस्था है। भोजन इकट्ठा करने का काम प्रायः श्रमिक-चींटियाँ करती हैं। पर प्रत्येक समुदाय में अथवा एक 'बस्ती' में रहने वाली समस्त चींटियों का 'पेट' एक ही माना जाता है। इसलिए श्रमिक चींटियाँ जितनी आहार-सामग्री पाती हैं, उसे अपने गले के नीचे के थैले पर भर लेती हैं। उसमें से वे अपने हिस्से का थोड़ा-सा अंश अपनी पाकस्थली में पहुँचा देती हैं और शेष में से एक-एक बूँद अन्य सबको बाँट देती हैं। इसकी जाँच करने के लिए वैज्ञानिकों ने आहार ढूँढ़ने वाली चींटियों के मार्ग में चीनी का गाढ़ा शर्बत रख दिया और उसमें कोई रासायनिक नीले रंग का पदार्थ मिला दिया। श्रमजीवी चींटियों ने शर्बत को खा लिया और बिल में पहुँचकर, उसके समस्त निवासियों, बच्चों तक को वही खाया हुआ शर्बत बाँट दिया। फल यह हुआ कि 'बस्ती' में रहने वाले समस्त प्राणियों के पेट में से थोड़ी नीलिमा झलकने लगी। इस प्रकार समस्त समुदाय का पेट पालन हो जाता है। यदि मनुष्य जाति ने इस सिद्धांत को समझकर व्यवहार रूप से पालन करना आरंभ कर दिया होता, तो आज कहीं भी इतने चोर, डाकू, उठाईगीर, ठग-लुटेरे आदि नहीं मिलते।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति जब तक जीवित रहेगा, अपनी भूख-प्यास की पूर्ति करने की समस्या तो उसे सुलझानी ही पड़ेगी। यदि उसका पेट सीधी तरह नहीं भरेगा तो असदाचरण का आश्रय लेगा। समाज के भले-बुरे का ख्याल छोड़कर जैसे बनेगा, वैसे

अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करेगा। इससे समाज का और उसका दोनों का ही अकल्याण होगा। समाज के सब सज्जन, परिश्रमी और साधन-संपन्न लोगों को शंकाकुल रहना पड़ेगा और उन कुमार्गगामी अपराधियों को सदैव शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करना पड़ेगा। समाज उनको चाहे बाहर रखकर खिलाए और चाहे जेल में रखकर, बिना खाये तो वे कभी रहेंगे नहीं। इसलिए यदि मनुष्य चींटी और मधुमक्खियों के समतुल्य भी समझदारी से काम लेता, तो आज उसकी अवस्था कहीं अधिक सुरक्षित होती।

चींटी की कुछ इंद्रियजन्य शक्तियाँ भी मनुष्य से कहीं उच्च कोटि की होती हैं। वे अपने मुख के सामने के बालों से स्पर्श और घृणा का काम लेती हैं। हमको जो गंध आती है, उसके द्वारा किसी वस्तु के रूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, पर चींटियाँ गंध से पदार्थ के रूप को भी समझ लेती हैं। जब चींटियों की विभिन्न 'बस्तियों' के बीच लड़ाई हो जाती है, तो भी वे गंध के सहारे मित्र और शत्रु की पहिचान कर लेती हैं, अन्यथा न तो उनकी वेषभूषा भिन्न प्रकार की होती है और न वे अपने दल का कोई विशेष 'रणघोष' ही करती हैं। इसलिए यही मालूम पड़ता है कि इस मसले को वे अपने मुँह के बालों द्वारा स्पर्श करके ही हल करती हैं। वे जिस रास्ते पर होकर, एक बार निकल जाती हैं, उसे अपने पैरों की गंध के द्वारा ही फिर पहिचान लेती हैं और इसी उपाय से दूर तक इधर-उधर घूमकर, फिर अपने घर वापस आ सकती हैं।

कई प्रकार की चींटियों में 'समझ' के भी कुछ लक्षण दीख पड़ते हैं। 'ड्राइवर' श्रेणी की चींटी रास्ते में कोई छोटा नाला-नाली आ जाने पर उस पर पुल बाँधकर शेष समस्त दल को पार पहुँचा देती हैं। वह इस प्रकार कि प्रत्येक श्रमिक चींटी एक छोटा तिनका मुँह में पकड़ लेती हैं और तब वे एक-दूसरे के तिनके को पकड़ती हुई नाले के आर-पार एक जीवित लड़ी बंद पुल बना देती हैं। बेट नामक वैज्ञानिक ने अपने निरीक्षण के आधार पर लिखा है कि

'दक्षिण अमेरिका के एक नगर में चींटियों ने ट्राम की पटरी को पार करने के लिए ऐसा ही पुल बनाया था। पर जब उनमें से बहुत-सी ट्राम से कुचल गईं तो उन्होंने बजाय पुल बनाने के पटरी के नीचे से खोदकर सुरंग बनाई। जब श्री बेट ने इन सुरंगों को बंद कर दिया तो उन्होंने पटरी के पार जाना बंद कर दिया और नई सुरंगें खोदकर ही उस पार गईं। इसी प्रकार एक वृक्ष पर चींटियों का चढ़ना रोकने के लिए उसमें तने के चारों तरफ दो-चार इंच चौड़ा चिपकाने वाला 'लासा' लगा दिया गया। चींटियों ने इधर-उधर से मिट्टी, पत्थर के छोटे कण लाकर, लासे पर डालकर उसे पाट दिया और उस पार पहुँच गईं।

चींटियों की स्वच्छता-भावना भी बहुत ऊँचे दर्जे की होती है। वे अपने शरीर की बहुत अधिक सफाई करती हैं। श्री मेककुक ने चींटियों के एक जोड़े का निरीक्षण करके बतलाया कि उनमें से एक तो पृथ्वी पर लेट गई और दूसरे ने उसे चाटकर साफ करना आरंभ किया। पहले उसने चेहरे को साफ किया, फिर छाती को खूब चाटा। इसी प्रकार कूल्हा, उदर और टाँगों को भी चाटकर पूरी तरह साफ किया, इस तमाम समय में सफाई कराने वाली चींटी ऐसी शांति और संतोष के साथ पड़ी रही, जिससे विदित होता था कि वह अपने साथी के काम के बहुत संतुष्ट और प्रसन्न है।

चींटियाँ अपने भरण-पोषण के लिए अनेक प्रकार की विधियों से काम लिया करती हैं। दक्षिण अमेरिका की 'अटूटा' जाति की चींटी पेड़ों से पत्तियाँ तोड़कर, उनके छोटे-छोटे टुकड़े करती हैं और फिर उनको अपने बिल के भीतर क्यारियों में फैला देती हैं। कुछ ही समय से उनसे कुकुरमुत्ता के तुल्य वनस्पति पैदा हो जाती है। बिल के भीतर रहने वाली सभी चींटियाँ मुख्य रूप से इन्हीं को खाकर गुजारा करती हैं। इनको 'बागवान-चींटियाँ' कहा जाता है।

दूसरी 'फसल जमा करने वाली चींटियाँ' होती हैं, जो अपने बिलों में खेती से अनाज या घास आदि के बीज इकट्ठा करती हैं। ये अक्सर शुष्क अथवा मरुभूमि के प्रदेशों में रहती हैं। इन प्रदेशों

में अक्सर बहुत समय सूखा पड़ जाता है और खाद्य सामग्री का अभाव हो जाता है। इसलिए ये चींटियाँ अपने बिलों के भीतर अधिक से अधिक तरह-तरह के बीज जमा कर लेती हैं और अभाव के दिनों में उन्हीं को खाकर गुजर करती हैं। हमारे देश में पुराने समय में अकाल के दिनों में अनेक बार लोगों ने इन चींटियों के बिलों को खोदकर एक-एक, दो-दो मन अनाज निकाला था।

'लेसियन्स' नाम की अमेरिका की चींटी एक अन्य छोटे कीड़ों को पालती है और उन्हें अनाज तथा पौधों की जड़ों के पास ले जाकर छोड़ देती हैं, जहाँ वे रस को चूस लेते हैं। कुछ समय बाद चींटी उस कीड़े को अपने बालों से थपथपाती है, जिससे वे रस को उगल देते हैं और चींटियाँ उसे चाट लेती हैं। इस प्रकार के इन जीवों से वही काम लेती हैं, जैसी मनुष्य गायों और भैंसों को पाल कर उनका दूध दुहकर लेते हैं।

इस प्रकार चींटियाँ, मधुमक्खियाँ और दीमक आदि जीव बहुत छोटे और नगण्य जान पड़ने पर भी सामूहिक शक्ति का इतना अधिक विकास कर चुके हैं कि बड़े-बड़े जीव भी उन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, वरन् जैसा मशहूर है साँप और हाथी जैसे जोरदार जीवों को भी अपनी सामूहिकता के बल पर 'भगा देते हैं या मार देते हैं।' वे सदा अपने सामुदायिक नियमों का पूरी तरह पालन करते हैं और फलस्वरूप किसी को भूखा-नंगा नहीं रहना पड़ता। यदि मनुष्य उन जीवों से इस विषय में प्रेरणा ले सका होता तो आज उसकी बहुत-सी समस्याएँ हल हो गई होतीं।

● चींटियों का जीवन व्यापार

सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री बेट एक बार चींटियों के सामाजिक जीवन का अध्ययन कर रहे थे। एकाएक मस्तिष्क में एक कौतूहल जागृत् हुआ, यदि इन चींटियों को मकान छोड़ने को विवश किया जाए, तब यह क्या करेंगी ? बेट चींटियों की बुद्धि की गहराई और उसकी सूक्ष्मता की माप करना चाहते थे। अतएव चींटियों के एक

बिल के पास ऐसा वातावरण उपस्थित किया, जिससे चींटियाँ आतंकित हों। पास की जमीन थपथाना, पानी छिड़कना, विचित्र शोर करना आदि। चींटियों ने उसी तरह परिस्थिति को गंभीर माना जिस तरह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, तूफान, समुद्री उफान जैसे प्राकृतिक कौतुक मनुष्य को डराने-धमकाने और ठीक-ठिकाने लाने के लिए बड़ी शक्तियाँ करती हैं और मनुष्य उनसे डर जाता है।

जिस स्थान पर बिल था, आधा फुट पास ही वहाँ एक छोटी-सी ढाल थी। सर्वेयर चींटियाँ चटपट बाहर निकलीं और उस क्षेत्र में घूमकर तय किया कि ढलान के नीचे का स्थान सुरक्षित है। उनके लौटकर भीतर बिल में जाते ही मजदूर गण सामान लेकर भीतर से निकलने लगे। बाहर आकर चींटियों ने दो दल बनाए। एक दल अपनी महारानी को लेकर नीचे उतर गया ओर खोजे हुए नए स्थान पर पहुँचकर बिल के बाहर पंक्तिबद्ध खड़ा हो गया, मानो वे सब किसी विशेष काम की तैयारी करने वाले हों।

सामान ज्यादा हो और दूरी की यात्रा हो तो मनुष्य बैलगाड़ी, रेल, मोटर और हवाई जहाज का सहारा लेते हैं। माना कि चींटियों के पास इस तरह के वाहन नहीं हों, यह भी संभव है कि वे आदिम युग के पुरुषों की तरह समझदार हों और यांत्रिक जीवन की अपेक्षा प्राकृतिक जीवन बेहतर मानती हों अतएव उन्होंने वाहन न रचे हों, पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनमें परिस्थितियों के विश्लेषण और तदनुरूप क्रिया की क्षमता होती है। चींटियों का जो दूसरा दल ऊपर था, समय और बोझ से बचने के लिए ऊपर से सामान लुढ़काना आरंभ किया। नीचे वाली चींटियाँ उसे सँभालती जा रही थीं और बिल के अंदर पहुँच रही थीं। ऐसा लगता था जैसे बाढ़ग्रस्त क्षेत्र में हेलीकॉप्टर से अन्न के बोरे गिराए जा रहे हों।

यह घटना यह बताती है कि बौद्धिक दृष्टि से नन्हीं-सी चींटी मनुष्य से कम नहीं। नन्हें-नन्हें जीवों में सूक्ष्म ज्ञान की वह क्षमता जहाँ यह बताती है कि आत्म-तत्त्व वह चाहे कितना ही लघु और

चाहे कितना ही विराट् क्यों न हो आत्मिक गुणों की दृष्टि से एक ही है, फिर मनुष्य को अपने आपको संसार के सबसे बुद्धिमान होने का अहंकार नहीं करना चाहिए।

मनुष्य जाति जैसे आचार-विचार और रहन-सहन छोटी-छोटी पिपीलिकाओं में देखकर स्वभावतः आश्चर्य होता है। जीव-जंतुओं की 'हीमेनोटेरा' शाखा में जिसमें बर्र, ततैया और मक्खियाँ भी पाई जाती हैं, उनमें चींटी सबसे ज्यादा समझदार है। संगठन, सूझ-बूझ, विचारशक्ति और अंतःप्रेरणा के साथ-साथ कर्तव्य पालन की मर्यादा, परस्पर हित-अहित का ध्यान जितना यह चींटियाँ रखती हैं, उतना ही मनुष्य भी रखता होता तो वह दुनिया का सबसे अधिक सुखी प्राणी होता। माना कि चींटियों को भगवान् ने 'वाक्' नहीं दिया तथापि उनके सिर में पाए जाने वाले ज्ञान तंतु इतने सजग होते हैं कि एक-दूसरे के सिर का स्पर्श करते ही उसके विचार वे आसानी से ग्रहण कर लेती हैं। परावाणी का ज्ञान भारतीयों ने संभवतः चींटियों से ही प्राप्त किया और ऐसी योग-साधनाएँ विकसित कर डालीं, जो मस्तिष्क के ज्ञान-तंतुओं को इतना सजग कर देती हैं कि किसी के भी मन की, अंतःकरण की भाव-लहरियों को आकाश के माध्यम से ही पकड़ा जा सके, भले ही कोई मुँह से कुछ बताए या नहीं।

यह तो है कि स्वार्थ और अहंकार वश यह चींटियाँ भी लूटमार करती हैं, पड़ौसी चींटियों की कालोनियों पर आक्रमण करके सामान छीन ले जाती हैं, पर उसमें भी उनका अनुशासन और नैतिकता मनुष्यों से बढ़कर होती है। जीवशास्त्री डॉ० डगलस ने अफ्रीका के जंगलों में हुए चींटियों के युद्ध का बड़ा रोचक वर्णन किया है और लिखा है कि महायुद्ध जैसा यह हमला चींटियों के दो दलों में १७ दिन तक चला। प्रतिदिन प्रातःकाल से आक्रमण प्रारंभ होता और सायंकाल को जाकर युद्ध विराम होता। जिस तरह मनुष्यों के युद्ध में संचार, निर्माण, सप्लाई, एम्युनिशन आदि अलग-अलग विभाग काम करते हैं, उसी प्रकार चींटियों के दोनों दलों में रसद पहुँचाने वाले अलग, निर्माण कार्य वाले अलग, संदेश लाने-ले जाने वाले अलग विभाग काम कर

रहे थे। लड़ने वाली चींटियाँ सेंग्विन कहलाती हैं, और तो और रात में उनका जासूसी विभाग भी सक्रिय रहता। अनेक दुश्मन चींटियाँ बंदी बनाई जातीं और उनके साथ ठीक कैदियों जैसा व्यवहार होता। लूट में एक-दूसरे का माल मिलता वह जमा किया जाता। जब तक एक दल की चींटियाँ और उनकी रानी मार नहीं डाली गईं, तब तक युद्ध विराम चलता रहा और फिर जीते पक्ष चींटियों का विजयोल्लास देखते ही बनता था। खूब शराब पी गई, दुम हिला-हिलाकर चींटियाँ नाची-कूदीं। यह उत्सव कई दिन तक चलता रहा। विजित चींटियाँ जो बचीं, दास बनाकर रखी गईं और उन्हें मजदूरी का काम सौंपा गया।

ऊपर 'शराब' शब्द का प्रयोग किया गया है, सो यों ही व्यर्थ में नहीं। मनुष्य जाति अपने मद्यपान की बुराई को संभव है यों समझ न पाती हो कि उसकी बुद्धि अपने दोष का दोष नहीं विशेषण मानती है, संभवतः इसीलिए आज शराब सभ्यता का प्रतीक मानी जाने लगी है, किंतु उससे होने वाली बीमारियाँ जातीय समर्थता का विनाश, आर्थिक अपव्यय, बौद्धिक क्षमता का नाश और फिर वंशानुगत कुसंस्कारों की जड़ें आदि ऐसी भयंकर हानियाँ हैं, जिन पर लोग गौर नहीं करते। चींटियाँ भी कई बार ऐसी बेवकूफी करती हैं, उनका मूल्य कितना भयंकर चुकाना पड़ता है, वह कभी मनुष्य को पता चले तो एक बार तो वह भी शराब पीने से डरे बिना रहे नहीं।

चींटियों के लिए शराब की ठेकेदारी एक प्रकार का 'भुनगा' करता है। इसके शरीर में सुनहरे बालों के गुच्छे होते हैं, उनमें से एक विशेष प्रकार का खुशबूदार द्रव्य निकालता है। भुनगा पहले तो एक विशेष प्रकार की मनमोहक संगीत-ध्वनि करता है। कर्णेंद्रिय की तृष्णा चींटियों को उधर खींच ले जाती है। झुंड की झुंड चींटियाँ उसके पीछे चल देती हैं। भुनगा बीन बजाता आगे बढ़ता है, सम्मोहित चींटियाँ पीछे-पीछे। अब भुनगा अपने शरीर से वह 'मादक' पदार्थ निकालता है, जिसे अपनी प्यारी शराब मानकर, चींटियाँ पीने लगती और पी-पी कर झूमने लगती हैं। सिर पर सवार शैतान उचित-अनुचित सोचने नहीं देता, उसी प्रकार चींटियाँ भी

होश-हवाश खोकर पीती हैं और इतना अधिक पी लेती हैं कि बेहोश तक हो जाती हैं। अब भुनगा उसको इस प्रकार शिकार बनाता है जैसे बीमारियाँ शराबी मनुष्य के शरीर को। इस दृष्टि से मनुष्य भी चींटियों जैसा मूर्ख प्राणी कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति नहीं। चींटियों में तो भी ऐसा होता है, उनकी समझदार रानी शराबी चींटियों को उस शरारती भुनगे के इंद्रजाल में न फँसने की चेतावनी देती रहती हैं। पर मनुष्य-समाज में ऐसे समझदार और सेवा-भावी लोग कहाँ, जो मनुष्य को इस बुरी लत से बचा लें।

कई भुनगे शिकारी नहीं होते, वे चींटियों को ऐसे ही शराब पिलाते रहते हैं, पर उससे भी चींटियों में उच्छृंखलता, कर्तव्य विमुखता, क्रूरता ऐसी ही पैदा होती है, जैसे किसी भी शराबी मनुष्य में किसी ऐसी शराबी चींटियाँ तक जब अपने दल में बुरी मानी जाती हैं तो शराबी मनुष्य को यदि बुरा कहा जाए तो उसमें क्या आश्चर्य ?

मनुष्यों की दुनिया बड़ी विचित्र है, चींटियों की भी उससे कम नहीं। मनुष्य के हर काम में समझदारी दिखाई देती है, किंतु यदि ध्यान से देखा जाए तो चींटियों का रहन-सहन उनसे भी अधिक समझदारी का दिखेगा। यह विधिवत् घर बनाकर रहती है। स्थापत्य कला में चींटियाँ मनुष्य से थोड़ा ही पीछे हैं। पानी निकालने और वर्षा के दिनों में बिल के अंदर पानी से सुरक्षित रहने के लिए यह बढ़िया घर बनाती है।

मनुष्य को पशुपालन-कुशलता पर गर्व हो सकता है। पर चींटियों में और मनुष्यों में इस दृष्टि से ज्यादा अंतर नहीं। दूध (हनीड्यू) देने वाली चींटियाँ गायों की तरह सफेद होती हैं, उनकी सुरक्षा और विकास के लिए चींटियाँ विशेष व्यवस्था रखती हैं, उन पर संतरी तैनात होते हैं, जो बिलकुल चरवाहों जैसा काम करते हैं। कृषक चींटियाँ खेती करती हैं, भंगी सफाई, सिपाही रक्षा और चौकीदारी का काम करते हैं तो शिल्पकार चींटियाँ घर बनाने का। इतना होने पर भी वह एक कुटुंब के सदस्यों की भाँति ऊँच-नीच और छूत-अछूत का भेदभाव किए बिना संगठित जीवनयापन करती हैं, आलसी अकर्मण्य

तो अपने बच्चे भी अच्छे नहीं लगते, सो चींटियों के यहाँ भी आलसी नर अधिकांश मार ही डाले जाते हैं। मनुष्य समाज में ऐसे लोग अपनी अभावजन्य स्थिति के कारण नष्ट होते हैं।

चींटियाँ ही नहीं, किसी भी पशु-पक्षी के जीवन व्यापार को एक साथ रखकर, उससे मनुष्य जीवन की तुलना करते हैं तो लगता है कि प्रत्येक प्राणी के शरीरों में आकार-प्रकार का अंतर होने पर भी मानसिक और बौद्धिक क्षमताएँ एक ही तत्त्व के गुण प्रतीत होते हैं।

शास्त्रकार का कथन है कि जीवमात्र विराट् आत्मा के अलग-अलग टुकड़े नहीं प्रत्युत् एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं। यदि मनुष्येतर दुनिया का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि आत्म चेतना ही है, जो कहीं तो विराट् सूर्य के रूप में अपनी सृष्टि के साथ क्रीड़ा करती है। वही कहीं मनुष्य बन जाती है तो कहीं चींटी और दीमक।

प्राणिजगत् में विद्यमान मर्यादा परायणता, प्रकृति-प्रेरणाओं के प्रति आस्था-निष्ठा देखकर, सहज ही यह विश्वास हो जाना चाहिए कि इस दृष्टि में सभी जीव-जंतु एक निश्चित नियम-मर्यादा के अनुसार आचरण करते और अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस कारण उन्हें सुखी, शांत तथा अनुद्विग्न भी देखा जा सकता है। सुख-शांति और अनुद्विग्न जीवन व्यतीत करने का एकमात्र यही राजमार्ग है कि जीवन की मर्यादाओं, नैतिक नियमों और आदर्शों के अनुरूप किया जाए। इन्हीं नियमों-मर्यादाओं को धार्मिकता-आस्तिकता कहा गया है। ईश्वरीय विधान का, नीति-नियमों का ही नाम ईश्वरीय निर्देश है। उसे सुनकर, समझकर अपने जीवन और आचरण में उतारने से ही ईश्वर के अस्तित्व से, उसके संपर्क सान्निध्य का लाभ उठाया जा सकता है, उठाया जाना चाहिए।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा